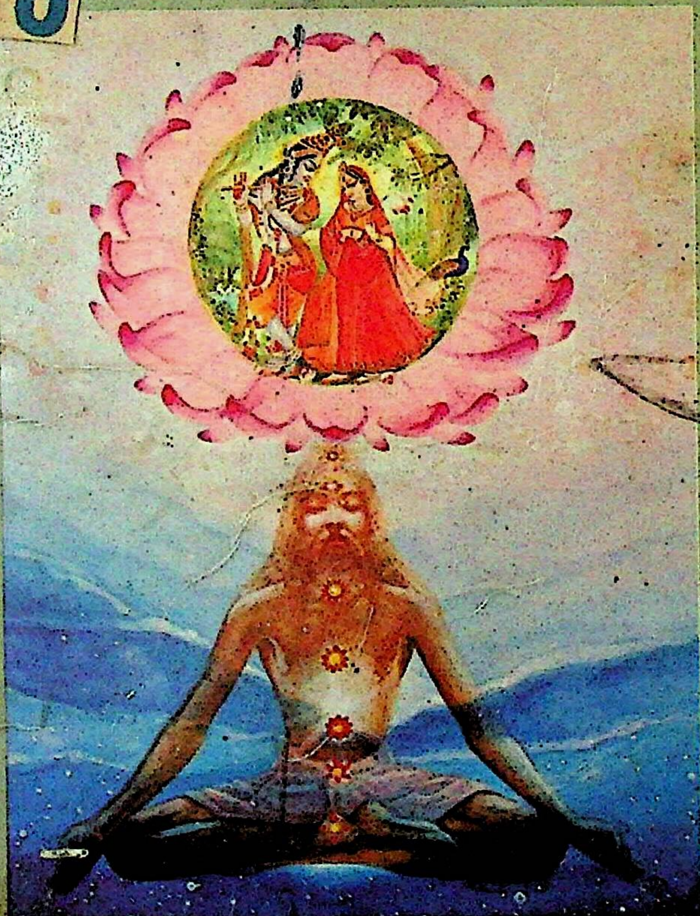
कृष्णकृपाश्रीमूर्ति
श्रीमद् ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद

श्रीकृष्णभावनामृत की प्राप्ति



इस्कॉन की भक्त योजना

दुर्लभ मानव जीवन का सार्थक उपयोग करना प्रत्येक नर या नारी का आदर्श होना चाहिए। योजना में भाग लेने के लिए प्रत्येक व्यक्ति आमंत्रित है, यदि वह निम्नलिखित विधि-निषेधों का पालन करता है :



विधि :

श्रद्धापूर्वक अधोलिखित हरे कृष्ण महामंत्र का जप तुलसी की १०८ मनकों वाली माला से प्रतिदिन १६ माला करे तथा गुरु-महाराज के निर्देशन में भक्तिमार्ग के अन्य विधि-विधानों का पालन करे।

महामंत्र :

हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे।।

निषेध :

१. नशा निषेध :

चाय, कॉफी, तम्बाकू, गाँजा, भाँग, शराब एवं अन्य किसी प्रकार के नशीले द्रव्य का सेवन निषिद्ध।

२. अभक्ष्य भक्षण निषेध :

मांस, मछली, अण्डा एवं प्याज, लहसुन जैसी तामसिक वस्तुओं का सेवन निषिद्ध।

३. परस्त्री गमन निषेध :

विवाहित दाम्पत्य जीवन के अलावा अन्य सभी प्रकार के स्त्री/पुरुष का अवैध सम्पर्क निषिद्ध।

४. द्यूत निषेध :

किसी भी प्रकार का जुआ, सट्टा आदि का खेलना निषिद्ध है।

उपर्युक्त हरे कृष्ण महामंत्र संघ का एक मात्र मंत्र है और श्रीमद्भगवद्गीता तथा श्रीमद्भागवत मूलभूत शास्त्र है।

• हमारे केन्द्रों के भगवदुन्मत्त पवित्र आध्यात्मिक वातावरण में इन भक्तों को प्रशिक्षित किया जायगा तथा योग्य भक्तों को भारत के वैदिक संदेश कृष्णभक्ति के प्रचारार्थ विदेशों में भी भेजे जाने की सम्भावना है।

विशेष विवरण के लिए इस्कॉन के किसी भी निकटस्थ केन्द्र से सम्पर्क करें अथवा भगवत्-दर्शन (भ.मा.वि.), भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट, हरे कृष्ण धाम, जुहू, बम्बई–४०० ०४९ से पत्र-व्यवहार करें।



भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु के
पंच शताब्दी आविर्भाव महोत्सव पर समर्पित.
१४८६—१९८६



॥ श्रीश्री गुरु गौरांगौ जयतः ॥

श्रीकृष्णभावनामृत को प्राप्ति

कृष्णकृपाश्रीमूर्ति श्रीमद् भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद द्वारा विरचित वैदिक ग्रन्थ रत्न :

श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप
श्रीमद्भागवत-सन्देश, स्कन्ध १-१० (५०-खण्ड)
श्रीचैतन्य चरितामृत (१७-खण्ड)
श्रीचैतन्य महाप्रभु का शिक्षामृत
भक्तिरसामृतसिन्धु
उपदेशामृत
श्रीईशोपनिषद्
अन्य लोकों की सुगम यात्रा
श्रीकृष्णभावना : परमयोग
लीला पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण (३-खण्ड)
पारमार्थिक प्रश्नोत्तर
वैदिक आलोक में पाश्चात्य दर्शन (२-खण्ड)
देवहूतिनन्दन भगवान् कपिल का शिक्षामृत
प्रह्लाद महाराज की भागवत-शिक्षा
रसराज श्रीकृष्ण
जीवन का स्रोत चेतन है
योग की पूर्णता
जन्म-मृत्यु से परे
श्रीकृष्ण की ओर
श्रीकृष्णभावना : अनुपम भेंट
गीतार गान (बंगाली)
राजविद्या
श्रीकृष्णभावना की प्राप्ति
भगवत्-दर्शन पत्रिका (मासिक)

अधिक जानकारी तथा सूचीपत्र के लिए लिखें :—

अन्तर्राष्ट्रीय श्रीकृष्णभावनामृत संघ

हरे कृष्ण लैण्ड, गांधी ग्राम रोड, जुहू, बम्बई–४०० ०४६

।। श्रीश्री गुरु गौरांगौ जयतः ।।

श्रीकृष्णभावनामृत की प्राप्ति

कृष्णकृपाश्रीमूर्ति

श्री श्रीमद् ए. सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद

संस्थापकाचार्य – अन्तर्राष्ट्रीय श्रीकृष्णभावनामृत संघ

अनुवादक

डॉ. विश्वनाथ शुक्ल

रीडर, हिन्दी विभाग

अलीगढ़ विश्वविद्यालय (उ. प्र.)

अनुवाद - सम्पादक

श्रीमान निरंजनदास ब्रह्मचारी

एम. एस्सी. (इंजीनियरिंग) रिसर्च (यू. के.)

एम. ए. हिन्दी (विक्रम)

भक्तिवेदान्त ग्रन्थ न्यास

हरे कृष्ण धाम, गाँधी ग्राम मार्ग

जुहू, बम्बई - ४०० ०४९

बम्बई ० लॉस एन्जिलेस ० न्यूयॉर्क ० लन्दन

इस ग्रन्थ की विषय-वस्तु के प्रति जिज्ञासु पाठकों से निवेदन है कि वे इस पुस्तक के पृष्ठभाग में उल्लिखित किसी भी निकटस्थ इस्कॉन केन्द्र के सचिव से, अथवा निम्नलिखित पते पर पत्र-व्यवहार करें :

सचिव
अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ (ISKCON)
हरे कृष्ण धाम, जुहू, बम्बई-400 049

प्रथम आवृत्ति— १९८३ / १०,००० प्रतियाँ
द्वितीय आवृत्ति-- अगस्त १९८५ / ५,००० प्रतियाँ
तीसरी आवृत्ति, अक्टूबर १९८६, १०,००० प्रतियाँ
चतुर्थ आवृत्ति—जुलाई १९८७, १०,००० प्रतियाँ

मुद्रक :

PRABHAT PRINTERS & STATIONERS
407, S.V.P. Road, BOMBAY-400 004

भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट के लिए श्रील गोपालकृष्ण गोस्वामी भगवत्पाद द्वारा हरे कृष्ण धाम जुहू, बम्बई से प्रकाशित।



लेखक-परिचय

कृष्णकृपाश्रीमूर्त्ति श्री श्रीमद् ए. सी भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद का जन्म १८९६ ई. में भारत के कलकत्ता नगर में हुआ था। अपने गुरु महाराज श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी से १९२२ में कलकत्ता में उनकी प्रथम भेंट हुई। एक सुप्रसिद्ध धर्म तत्त्ववेत्ता, अनुपम प्रचारक, विद्वान्-भक्त, आचार्य एवं चौसठ गौडीय मठों के संस्थापक श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती को ये सुशिक्षित नवयुवक प्रिय लगे और उन्होंने वैदिक ज्ञान के प्रचार के लिए अपना जीवन उत्सर्ग करने की इनको प्रेरणा दी। श्रील प्रभुपाद उनके छात्र बने और ग्यारह वर्ष बाद (१९३३ ई. में) प्रयाग (इलाहाबाद) में विधिवत् उनके दीक्षा-प्राप्त शिष्य हो गये।

अपनी प्रथम भेंट, १९२२ में ही श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने श्रील प्रभुपाद से निवेदन किया था कि वे अँग्रेजी भाषा के माध्यम से वैदिक ज्ञान का प्रसार करें। आगामी वर्षों में श्रील प्रभुपाद ने श्रीमद्भगवद्गीता पर एक टीका लिखी, गौडीय मठ के कार्य में सहयोग दिया तथा १९४४ में बिना किसी की सहायता के एक अँग्रेजी

शिष्यों ने संयुक्त राज्य अमेरिका तथा अन्य देशों में भी ऐसे अनेक समुदायों की स्थापना की।

१९७२ ई. में श्रील प्रभुपाद ने डल्लास, टैक्सस में गुरुकुल विद्यालय की स्थापना द्वारा पश्चिमी देशों में प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा की वैदिक प्रणाली का सूत्रपात किया। तब से, उनके निर्देशन के अनुसार श्रील प्रभुपाद के शिष्यों ने सम्पूर्ण विश्व में दस से अधिक गुरुकुल खोले हैं। भक्तिवेदान्त स्वामी गुरुकुल, श्रीवृन्दावन धाम इनमें सर्वप्रमुख है।

श्रील प्रभुपाद ने श्रीधाम-मायापुर, पश्चिम बंगाल में एक विशाल अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र के निर्माण की प्रेरणा दी है। यहीं पर वैदिक साहित्य के अध्ययनार्थ सुनियोजित संस्थान की योजना है, जो अगले दस वर्ष तक पूर्ण हो जायेगा। इसी प्रकार श्रीवृन्दावन धाम में भव्य कृष्ण-बलराम मन्दिर और अन्तर्राष्ट्रीय अतिथि भवन का निर्माण हुआ है। ये वे केन्द्र हैं जहाँ पाश्चात्य लोग वैदिक संस्कृति का मूल रूप से प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त कर सकते हैं। बम्बई में भी श्री राधारासविहारीजी मन्दिर के रूप में एक विशाल सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक केन्द्र का विकास हो चुका है। इसके अतिरिक्त भारत में बारह अन्य महत्वपर्ण स्थानों में हरे कृष्ण मन्दिर खोलने की योजना कार्याधीन है।

किन्तु, श्रील प्रभुपाद का सबसे बडा योगदान उनके ग्रन्थ हैं। ये ग्रन्थ विद्वानों द्वारा अपनी प्रमाणिकता, गम्भीरता और स्पष्टता के कारण अत्यन्त मान्य है और अनेक महाविद्यालयों में उच्चस्तरीय पाठ्य ग्रन्थों के रूप में प्रयुक्त हैं। श्रील प्रभुपाद की रचनाएँ अट्ठाईस भाषाओं में अनूदित हैं। १९७२ में केवल श्रील प्रभुपाद के ग्रन्थों के प्रकाशन के लिए स्थापित भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट, भारतीय धर्म और दर्शन के क्षेत्र में विश्व का सबसे बड़ा प्रकाशक हो गया है। इस ट्रस्ट का एक अत्यधिक आकर्षक प्रकाशन श्रील प्रभुपाद द्वारा केवल अठारह मास में पूर्ण की गई उनकी एक अभिनव कृति है जो बंगाली धार्मिक महाग्रन्थ श्री चैतन्य चरितामृत का सत्तरह खण्डों में अनुवाद और टीका है।

बारह वर्षों में, अपनी वृद्धावस्था की चिन्ता न करते हुए व्याख्यान-पर्यटन के रूप में श्रील प्रभुपाद ने विश्व के छहों महाद्वीपों की चौदह परिक्रमाएँ कीं। इतने व्यस्त कार्यक्रम के रहते हुए भी श्रील प्रभुपाद की उर्वरा लेखनी अविरत चलती था। उनकी रचनाएँ वैदिक दर्शन, धर्म, साहित्य और संस्कृति के एक यथार्थ पुस्तकालय का निर्माण करती है।

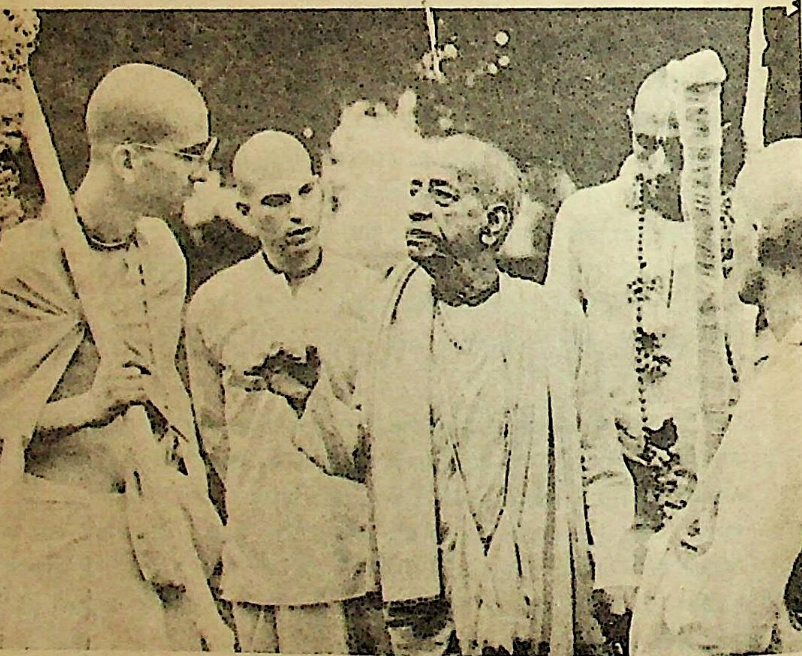
पाक्षिक पत्रिका आरम्भ की, स्वयं ही उसका सम्पादन, पाण्डुलिपि का टङ्कण (टाइपिंग) और मुद्रण सामग्री को देखा। उन्होंने एक-एक प्रति निःशुल्क बाँटकर भी इसके प्रकाशन को वर्त्तमान रखने के लिए संघर्ष किया। एक बार आरम्भ होकर फिर यह पत्रिका कभी बन्द नहीं हुई; अब यह उनके शिष्यों द्वारा पश्चिमी देशों में भी चलाई जा रही है

श्रील प्रभुपाद के दार्शनिक ज्ञान एवं भक्ति की महत्ता पहचान कर 'गौड़ीय वैष्णव समाज' ने १९४७ में उन्हें 'भक्तिवेदान्त' की उपाधि से सम्मानित किया। १९५० ई. में चौवन वर्ष की अवस्था में श्रील प्रभुपाद ने गृहस्थ जीवन से अवकाश लिया और चार वर्ष बाद वानप्रस्थ ले लिया जिससे वे अपने अध्ययन और लेखन के लिये अधिक समय दे सकें। श्रील प्रभुपाद ने तदनन्तर श्रीवृन्दावन धाम की यात्रा की जहाँ वे बड़ी ही सात्विक परिस्थितियों में मध्यकालीन ऐतिहासिक श्री राधा दामोदर मन्दिर में रहे। वहाँ वे अनेक वर्षों तक गम्भीर अध्ययन एवं लेखन में संलग्न रहे। १९५९ में उन्होंने संन्यास ग्रहण कर लिया। श्री राधा दामोदर मन्दिर में ही श्रील प्रभुपाद ने अपने जीवन के सबसे श्रेष्ठ और महत्वपूर्ण ग्रन्थ का आरम्भ किया था। वह ग्रन्थ था अठारह हजार श्लोक संख्या के श्रीमद्भागवत पुराण का अनेक खण्डों में अँग्रेजी में अनुवाद और व्याख्या। वहीं उन्होंने 'अन्य लोकों की सुगम यात्रा' नामक पुस्तिका भी लिखी थी।

श्रीमद्भागवत के प्रारम्भ के तीन खण्ड प्रकाशित करने के बाद श्रील प्रभुपाद १९६५ ई. में अपने गुरुदेव का धर्मानुष्ठान पूरा करने के लिये संयुक्त राज्य अमेरिका गये। अन्ततः श्रील प्रभुपाद ने भारतवर्ष के श्रेष्ठ दार्शनिक और धार्मिक ग्रन्थों के प्रामाणिक अनुवाद, टीकाएँ एवं संक्षिप्त अध्ययन-सार के रूप में साठ से अधिक ग्रन्थ रत्न प्रस्तुत किये।

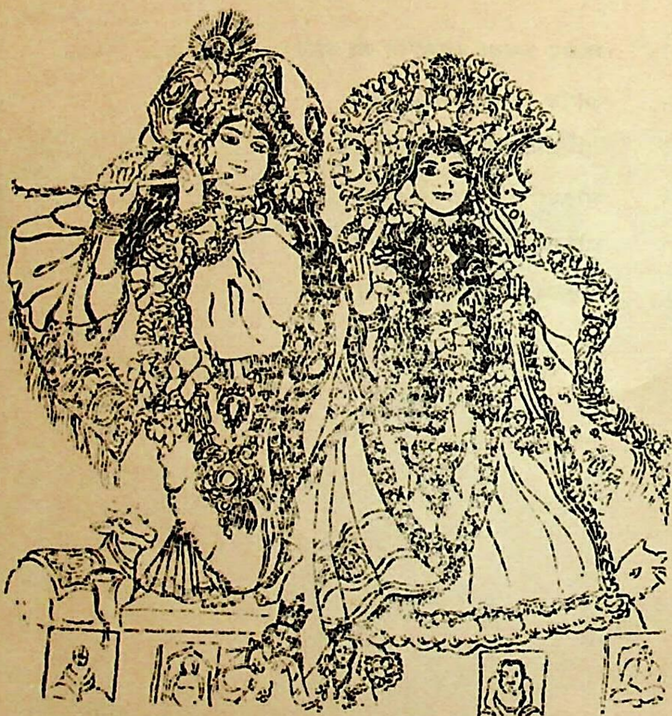
१९६५ में जब श्रील प्रभुपाद एक मालवाहक जलयान द्वारा प्रथम बार न्यूयॉर्क नगर में आये तो उनके पास एक पैसा भी नहीं था। इसके पश्चात् कठिनाई भरे लगभग एक वर्ष के बाद जुलाई १९६६ में उन्होंने 'अन्तर्राष्ट्रीय श्रीकृष्णभावनामृत संघ' की स्थापना की। १४ नवम्बर १९७७ को, कृष्ण-बलराम मन्दिर, श्रीवृन्दावन धाम में अप्रकट होने पूर्व तक श्रील प्रभुपाद ने अपने कुशल मार्ग निर्देशन के कारण इस संघ को विश्वभर में सौ से अधिक मन्दिरों के रूप में आश्रमों, विद्यालयों, संस्थाओं और कृषि-क्षेत्रों का बृहद् संगठन बना दिया है।

१९६५ में श्रील प्रभुपाद ने प्रयोग के रूप में. वैदिक समाज के आधार पर पश्चिमी वर्जीनिया की पहाड़ियों में एक नव वृन्दावन की स्थापना की। एक हजार एकड़ से भी अधिक के इस समृद्ध नव-वृन्दावन के कृषि क्षेत्र से प्रोत्साहित होकर उनके



भक्ति वेदान्त बुक ट्रस्ट, हरेकृष्ण लैंड, जुहू—बंबई ४९

विषय-सूची



अध्याय : १

मानव अथवा पशुजीवन का चयन

ॐ अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः ।।

" अज्ञान रूपी घोर अंधकार से अंधे हुए मेरे नेत्र को जिन्होंने ज्ञान के अंजन रूपी शलाका से खोल दिया है, उन गुरुदेव को नमस्कार है। "

भारत में यह प्रथा है कि उक्त श्लोक से गुरु को नमस्कार किया जाता है, जो अपने शिष्यों को दिव्य ज्ञान का प्रकाश देते हैं। वैदिक पद्धति में शोधकार्य की आवश्यकता नहीं है। सांसारिक विद्वत्ता में हमें किसी शोध-कार्य के द्वारा अपने शैक्षणिक अध्ययन का प्रमाण देना पड़ता है किंतु वैदिक पद्धति इससे भिन्न है। वैदिक पद्धति में शोधकार्य पहले ही कर लिया गया है। वह ज्ञान परिपूर्ण है। उस ज्ञान को गुरु–परंपरा से गुरु अपने शिष्य को केवल हस्तांतरित करते हैं। वैदिक पद्धति में शोधकार्य का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि लोक में जिन साधनों या उपकरणों से शोधकार्य किया जाता है, वे कुंठित और अपूर्ण हैं।

अपनी वर्तमान भौतिक स्थिति में हम प्रकृति के अनेक नियमों से बंधे हैं। सभी बद्ध जीव अपनी इंद्रियों की अपूर्णता के कारण चार दोषों के पात्र हैं। एक दोष तो यह है कि बद्ध जीव निश्चय ही त्रुटियाँ (गलतियाँ) करता है। ऐसा कोई मनुष्य नहीं है जो त्रुटियाँ न करता हो। उदाहरण के लिए, भारत में महात्मा गांधी को एक महान् व्यक्तित्व माना जाता है किन्तु उन्होंने भी त्रुटियाँ कीं। जिस सभा में वे मारे गए, उसमें जाने से ५

मिनट पूर्व उनके विश्वस्त साथियों ने उनसे वहाँ जाने के लिए मना किया था किंतु वे हठ पकड़ गए। बद्ध दशा में त्रुटियाँ करना बड़ा स्वाभाविक है। इसलिए अंग्रेजी में यह कहावत चल पड़ी है, "त्रुटियाँ करना मनुष्य के लिए स्वाभाविक है।"

बद्ध जीव की दूसरी अपूर्णता यह है कि वह अवश्य ही भ्रमित हो जाता है। भ्रमित होने का तात्पर्य है, उस पदार्थ की सत्ता को मान लेना जो है ही नहीं अर्थात् किसी छायाचित्र को वास्तविक मान लेना। हममें से प्रत्येक की धारणा है कि हम यह शरीर हैं किंतु वस्तुतः हम शरीर नहीं हैं। शरीर को आत्मा मान लेना ही माया है।

बद्ध दशा में तीसरी अपूर्णता है ठगने की प्रवृत्ति। हम एक दुकानदार को प्रायः यह कहते हुए सुनते हैं, "चूंकि आप मेरे मित्र हैं, मैं आपसे कोई लाभ नहीं लूंगा।" किंतु वस्तुतः हम जानते हैं कि वह कम से कम ५० प्रतिशत लाभ ले रहा है। इस ठगने की प्रवृत्ति के कितने ही उदाहरण हैं। इसी प्रकार कितने ही अध्यापकों के उदाहरण हैं, जो जानते तो कुछ नहीं हैं किंतु अपने सिद्धांतों को "संभवतः ऐसा हो सकता है," जैसे वाक्यों से प्रतिपादित करते हैं जबकि वास्तव में वे अपने छात्रों को केवल ठग रहे हैं।

चौथी अपूर्णता यह है कि प्राणी की इंद्रियाँ पूर्ण नहीं हैं। हमारी दृष्टि इतनी सीमित है कि न तो हम बहुत दूर देख सकते हैं, न बहुत पास। हमारे नेत्र कुछ विशेष दशाओं में ही देख पाते हैं। इसलिए यह समझा जाता है कि हमारी दृष्टि सीमित है। इसी प्रकार हमारी अन्य सब इंद्रियाँ भी सीमित हैं। असीमित को इन अपूर्ण और सीमित इंद्रियों से नहीं समझा जा सकता है। निष्कर्ष यह है कि वैदिक पद्धति हमें पूर्ण (परम) सत्य को जानने के लिए इन अपूर्ण इंद्रियों का प्रयोग करने के लिए प्रोत्साहित नहीं करती। यदि हमें ज्ञान प्राप्त करना है तो वह निश्चय ही एक उच्चतर स्रोत से प्राप्त होना चाहिए जो उक्त चार दोषों या अपूर्णताओं से आबद्ध

नहीं है। वह स्रोत श्रीकृष्ण हैं। वे भगवद्गीता के सर्वोच्च अधिकारी (प्रमाण) हैं। वे अनेक ऋषि मुनियों के द्वारा पूर्ण ज्ञान के स्रोत के रूप में स्वीकृत हैं।

जो लोग वैदिक साहित्य के गंभीर अध्येता हैं, वे महाजनों के प्रमाण को स्वीकार करते हैं। उदाहरण के लिए, श्रीमद्भगवद्गीता विद्वानों का प्रस्तुतीकरण नहीं है, जो बहुत शोध के बाद प्रकाश में आई हो। यह तो पूर्ण ज्ञान है जो भगवान् श्रीकृष्ण ने कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में अर्जुन को दिया था और गीता से हमें यह पता चलता है कि पूर्व युगों में श्रीकृष्ण ने यह ज्ञान सूर्यदेवता को दिया था और सूर्य द्वारा अनादिकाल से गुरु-परंपरा से यह ज्ञान आगामी पीढ़ियों को दिया जाता रहा।

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह, मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥

"भगवान् ने कहा : मैंने इस अविनाशी योग का सूर्यदेव विवस्वान् को उपदेश किया था। विवस्वान् ने उसकी शिक्षा मानव जाति के पिता मनु को दी थी तथा मनु ने इक्ष्वाकु के प्रति कहा।" (गीता ४.१)

यदि हम गीता का अध्ययन आधुनिक शिक्षा से अर्जित ज्ञान या अपने मस्तिष्क के अनुमानों से करने लगें, तो निश्चय ही हम त्रुटि करेंगे। भगवद्गीता को इस प्रकार से समझ पाना असंभव है। इसके लिए अर्जुन का अनुगामी होना आवश्यक है। पूर्वकाल में अपने अपने अर्थ और कल्पनाओं के कारण गीता का वास्तविक तात्पर्य लुप्त हो गया। इसलिए श्रीकृष्ण ने अपने इस उपदेश को अर्जुन को देकर पुनः स्थापित किया –

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप॥
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥

"हे परंतप (अर्जुन), यह परम विज्ञान इस प्रकार गुरु-परंपरा के द्वारा प्राप्त हुआ और राजर्षियों ने इस विधि से जाना परंतु काल-क्रम से वह परंपरा खंडित हो गई, जिससे यह विज्ञान अपने यथार्थ रूप नें लुप्तप्राय हो गया। वही प्राचीन योग आज मैंने तुमसे कहा है क्योंकि तुम मेरे भक्त और सखा हो, अतएव तुम इस विज्ञान के दिव्य रहस्य को धारण कर सकते हो।" (गीता ४.२–३)

अतः स्पष्ट है कि जो व्यक्ति अर्जुन का अनुगमन करते हुए भक्तिभाव से श्रीकृष्ण की ओर अग्रसर होता है वही भगवद्गीता और अन्य वैदिक साहित्यों का तात्पर्य समझ सकता है। वेद चार हैं– सामवेद, ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद। उपनिषद् १०८ हैं जैसे ईशोपनिषद्, कठोपनिषद्, तैत्तरीयोपनिषद् इत्यादि। वैदिक साहित्य में ब्रह्मसूत्र, श्रीमद्-भागवत और भगवद्गीता भी सम्मिलित हैं। यह साहित्य किसी विशेष मानव समुदाय के लिए नहीं अपितु समस्त मानव जाति के लिए है। संपूर्ण मानव समाज इस मानव जीवन को परिपूर्ण बनाने के लिए वैदिक ज्ञान का लाभ उठा सकता है। जैसा पहले बताया जा चुका है, यह मानव जीवन इंद्रिय-तृप्ति के लिए नहीं, अपितु इसका लक्ष्य श्रीभगवान्, जगत् और स्वयं को जानना है।

वैदिक साहित्य से हम समझ सकते हैं कि यह भौतिक जगत् भगवान् की पूर्ण सृष्टि की एक आंशिक अभिव्यक्ति है। श्रीभगवान् की सृष्टि के बृहत्तर अंश का दर्शन वैकुंठ के आध्यात्मिक जगत् में होता है। इस भौतिक प्रकृति के परे एक श्रेष्ठ आध्यात्मिक परा प्रकृति है, जैसा कि श्रीकृष्ण भगवद्गीता में कहते है:

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

"पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार– मेरी भिन्ना प्रकृति के आठ रूप हैं। महाबाहु अर्जुन, इस अपरा (जड़) प्रकृति के अतिरिक्त मेरी एक परा (चेतन) प्रकृति भी है। ये जीव बहिरंगा माया-शक्ति के साथ संघर्ष कर रहे हैं एवं ब्रह्मांड को धारण कर रहे हैं।" (गीता ७.४–५)

इस सृष्टि में अनेक भौतिक ब्रह्मांड पुंजीभूत हैं और इन सबसे इस भौतिक सृष्टि का निर्माण होता है। इन सब भौतिक ब्रह्मांडों के परे एक दिव्य धाम है, जिसका उल्लेख भगवद्गीता में है –

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

"मेरा वह परम धाम न सूर्य, न चंद्रमा और न अग्नि के द्वारा प्रकाशित होता है। जो मेरे उस परम धाम को प्राप्त कर लेता है, वह पुनः इस प्राकृत जगत् में नहीं लौटता।" (गीता १५.६)

वह परा प्रकृति, जो इस भौतिक अपरा प्रकृति के परे है, शाश्वत है। इसके प्रारंभ होने का कोई इतिहास नहीं है। न इसका आदि है न अंत।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥
अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

"इस व्यक्त–अव्यक्त होने वाली जड़ प्रकृति से परे एक अन्य सनातन प्रकृति भी है। यह परा और अविनाशी है। इस जगत् के नष्ट हो जाने पर भी उसका नाश नहीं होता। उस परम धाम को अव्यक्त और अक्षर कहते हैं और वही परम गति है। वहाँ जाने वाला संसार में फिर नहीं आता, वही मेरा परम धाम है।" (गीता ८.२०–२१)

वैदिक धर्म या वर्णाश्रम धर्म भी सनातन है क्योंकि कोई इसके

आरंभ का पता नहीं लगा सकता। ईसाई धर्म का इतिहास २००० वर्ष का और मुस्लिम धर्म का इतिहास १३०० वर्ष का है किंतु यदि हम वैदिक धर्म के आरंभ की खोज करने का प्रयत्न करें तो हमें किसी आरंभ का पता नहीं लग सकेगा। वर्णाश्रम धर्म भी मानव प्राणी का सनातन धर्म है।

हम प्रायः कहते हैं कि श्रीभगवान् ने इस भौतिक जगत् का निर्माण किया है। इसका तात्पर्य गह है कि श्रीभगवान् इस जगत् से पूर्व विद्यमान थे। भगवान् इस भौतिक दृश्य जगत् से पूर्व विद्यमान थे, अतः वे इस सृष्टि के विषय नहीं हैं। यदि भगवान् इस भौतिक जगत् के नियमों में आबद्ध होते तो वे इस जगत् का निर्माण ही कैसे कर पाते? अपनी सृष्टि से श्रीभगवान् भी साथ ही साथ अभिन्न हैं और अपनी परिपूर्णता में भिन्न रूप से भी विद्यमान हैं, ऐसा भगवद्गीता में कहा गया है –

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥

"मेरे द्वारा, मेरे अव्यक्त स्वरूप में, यह संपूर्ण जगत् व्याप्त है। सभी चराचर प्राणी मुझमें स्थित हैं, पर मैं उनमें नहीं हूँ और इतना होने पर भी यह सृष्टि मुझमें स्थित नहीं है। मेरे इस योगैश्वर्य को देखो! यद्यपि मैं समस्त भूतप्राणियों को धारण करता हूँ और सर्वव्यापक हूँ, तथापि मैं ही सृष्टि का एकमात्र स्रोत हूँ।" (गीता ९.४–५)

वास्तव में हम सब आत्मा स्वरूप हैं और हमारा लक्ष्य श्रीभगवान् के परम धाम में उनसे मिलना है जहाँ असंख्य दिव्य लोक हैं और असंख्य दिव्य प्राणी हैं। किंतु जो लोग उस वैकुंठ जगत् में रहने के योग्य नहीं हैं, वे इस भौतिक जगत् में भेज दिए जाते हैं। यही विचार मिल्टन ने "पैराडाइज लॉस्ट" में व्यक्त किया है। यद्यपि हम आत्मा स्वरूप हैं किंतु हमने स्वेच्छा से यह भौतिक शरीर स्वीकार किया है, और इसके स्वीकार करने के फलस्वरूप, इस

भौतिक प्रकृति के त्रिविध दुःख भी स्वीकार कर लिए हैं। इसे हमने कब और कैसे स्वीकार किया, ठीक-ठीक नहीं बताया जा सकता। जीवात्मा ने कब से यह भौतिक शरीर धारण करना स्वीकार किया, इसका इतिहास कोई नहीं बता सकता।

वर्तमान युग में डारविन द्वारा स्थापित कार्बनिक पदार्थों के विकास के सिद्धांत की उच्च शिक्षा संस्थाओं में बड़ी मान्यता है। किंतु पद्मपुराण तथा अन्य प्रामाणिक शास्त्रों में जीवात्माओं के एक शरीर से दूसरे शरीर में परिवर्तित होनेवाले आध्यात्मिक विकास की चर्चा है। इस पुराण से हमें सूचना मिलती है कि जीवों की चौरासी लाख योनियाँ हैं, जिनमें से नौ लाख जीवधारी जल में रहनेवाले हैं। केवल वृक्षों और वनस्पतियों में ही तीस लाख योनियाँ हैं। वर्तमान काल में प्रत्येक व्यक्ति डारविन के सिद्धांत पर बल दे रहा है किंतु वैदिक साहित्य में विभिन्न योनियों के विषय में विशुद्ध ज्ञान भरा पड़ा है। डारविन का विचार है कि योनियाँ निम्न कोटि के जीव रूपों से विकसित हो रही हैं किंतु यह पूर्ण सत्य नहीं है। आत्मा निम्न कोटि के रूपों से उच्च कोटि के रूपों में विकास कर सकती है किंतु सृष्टि के आरंभ में श्रीकृष्ण ने सभी योनियों की रचना की, जैसा कि भगवद्गीता में उल्लेख है –

> सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
> कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥
> प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
> भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥

"हे कुंतीपुत्र अर्जुन, कल्प का अंत होने पर संपूर्ण सृष्टि मेरी प्रकृति में लय हो जाती है और नये कल्प के आरंभ मे अपनी शक्ति द्वारा मैं उसे फिर रचता हूँ। संपूर्ण सृष्टि मेरे अधीन है। मेरे संकल्प से ही यह बारंबार प्रकट होती है और मेरे ही संकल्प से अंत में इसका नाश हो जाता है।" (गीता ९.७–८)

ये सभी प्राणी दैविक, दैहिक और भौतिक—ये त्रिविध दुखों को भोग रहे हैं। पशुओं को यह ज्ञान नहीं होता कि वे दुख भोग रहे हैं जबकि मनुष्यों को यह अनुभव होता है। जो व्यक्ति यह नहीं जानता कि वह दुख भोग रहा है, वह पशु–स्तर पर है। जिन पशुओं का वध होने वाला होता है, वे एक बाड़े के पीछे खड़े होते हैं किंतु वे नहीं जानते कि अगले ही क्षण उनका वध होने वाला है। किंतु मनुष्य जीवन में इस बात का ज्ञान होना ही चाहिए। हम जन्म, वृद्धावस्था, रोग और मृत्यु का दुख भोग रहे हैं। हमें इसकी जिज्ञासा होनी ही चाहिए कि इन दुखों से कैसे छुटकारा मिल सकता है। हम तभी से दुख भोग रहे हैं जब एक शिशु के रूप में नौ मास के लिए किसी माता के गर्भ के एक सुदृढ़ बंधन में पड़े हुए थे। जन्म के बाद दुख का अंत नहीं होता। यद्यपि माँ अपने बच्चे की बहुत देखभाल करती है किंतु बच्चा फिर भी रोता है। ऐसा क्यों है ? ऐसा इसलिए होता है कि बच्चे को कोई न कोई कष्ट है। या तो उसे खटमल काट रहे होते हैं या उसके पेट मे दर्द होता है या और कोई व्याधि होती है। कुछ भी हो, दुख–परंपरा चलती रहती है। बच्चे को तब भी कष्ट होता है, जब वह पाठशाला जाने के लिए बाध्य किया जाता है और वह जाना नहीं चाहता। बच्चा पढ़ना नहीं चाहता किंतु फिर भी अध्यापक उसे पढ़ने-लिखने का काम देते हैं। यदि हम सावधानी से अपने जीवन का विश्लेषण करें तो हमें पता लगेगा कि वह दुखों से भरा हुआ है। साधारणतया बद्ध जीव बुद्धिमान् नहीं होते और इसलिए वे कभी यह जानने की चेष्टा किए बिना कि वे क्यों दुखी हैं, दुख भोगते चले जाते हैं। अतः हमें जानना चाहिए कि संसार में दुख तो है और यदि इसके निवारण का कोई उपाय है तो उसका लाभ उठाना चाहिए। महर्षि ऋषभदेव ने अपने पुत्रों को इस प्रकार उपदेश दिया था, "मेरे प्रिय पुत्रो, इस मानव जीवन में तुमने ये सुंदर शरीर प्राप्त किए हैं। अब तुम्हें जानना चाहिए कि इनका लक्ष्य सूकर–कुक्कुर के शरीरों की भाँति इंद्रियतृप्ति करना नहीं है अपितु आत्म ज्ञान प्राप्त करना है।" वस्तुतः ऋषभदेव का कथन है कि इंद्रियों की तृप्तिवाला जीवन

सूकरों के समान मलभक्षी प्राणियों के लिए है और चूँकि हम लोग उच्चतर जीवन-स्तर पर हैं, हमें निम्नतर जीवन-स्तर के प्राणियों का अनुकरण नहीं करना चाहिए। अभी हाल में ही हमें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि न्यूयॉर्क नगर के सेंट्रल पार्क के युवा अमेरिकन लड़कों और लड़कियों का एक दल सुअरों की उपासना में व्यस्त था। जव हम "हरे कृष्ण" कीर्तन कर रहे थे तव ये युवजन "सुअर, सुअर सुअर" की रट लगा रहे थे। वे सचमुच सेंट्रल पार्क में सुअरों के साथ चलते हुए, उनको नमस्कार करत हुए उनकी पूजा कर रहे थे। वे एक सुअर को अध्यक्ष बनाना चाहते थे और अन्य सुअरों से नेतृत्व की अपेक्षा रखते थे। यह स्थिति इतनी दूर तक पहुँच गई कि सीटिल् के एक "बी–इन" (एक होटल) में एक प्रदर्शन हुआ, जिसमे लड़के–लड़कियाँ निर्वस्त्र होकर कीचड़ मे धँसे और सुअरों के साथ खेलने लगे। इस प्रकार वे लोग सुअरों के साथ तादात्म्य कर उनकी उपासना कर रहे थे। यह सब उस देश में हो रहा है, जहाँ के युवजन सुंदर शरीर रखते हैं जहाँ प्रचुर धन है और जहाँ के युवजनों को अन्य राष्ट्रों के युव-जनों की तुलना में अधिक सुविधाएँ प्राप्त हैं। इन सब सुविधाओं को प्राप्त करने का फल यह हुआ है कि ये लोग सुअरों की पूजा करने लगे हैं। इस प्रकार की शूकर–पूजा की पूर्वकल्पना बहुत पहले श्रीमद्भागवत में कर ली गई थी और उसमें इसका उल्लेख भी है। श्रीमद्भागवत की रचना कम से कम पाँच हजार वर्ष पूर्व हुई थी। तात्पर्य यह है कि जीवन में एक सुंदर स्थिति का उपयोग एक सुंदर लक्ष्य के लिए होना चाहिए न कि निकृष्ट कोटि के जीवन रूपों की उपासना के लिए।

वैदिक इतिहासों से हमें पता चलता है कि भारत में अनेक श्रेष्ठ सम्राट् और राजर्षि हुए हैं जिन्होंने कठोर तप और योग साधनाएँ की थीं। महाराज ध्रुव, महाराज अंबरीष और महाराज युधिष्ठिर महान् राजा थे, बड़े वैभवशाली थे किंतु साथ ही बड़े ऋषि भी थे। इस प्रकार उन्होंने उन लोगों के लिए उदाहरण प्रस्तुत किया था, जिन्हें आर्थिक विकास की सारी सुवि-

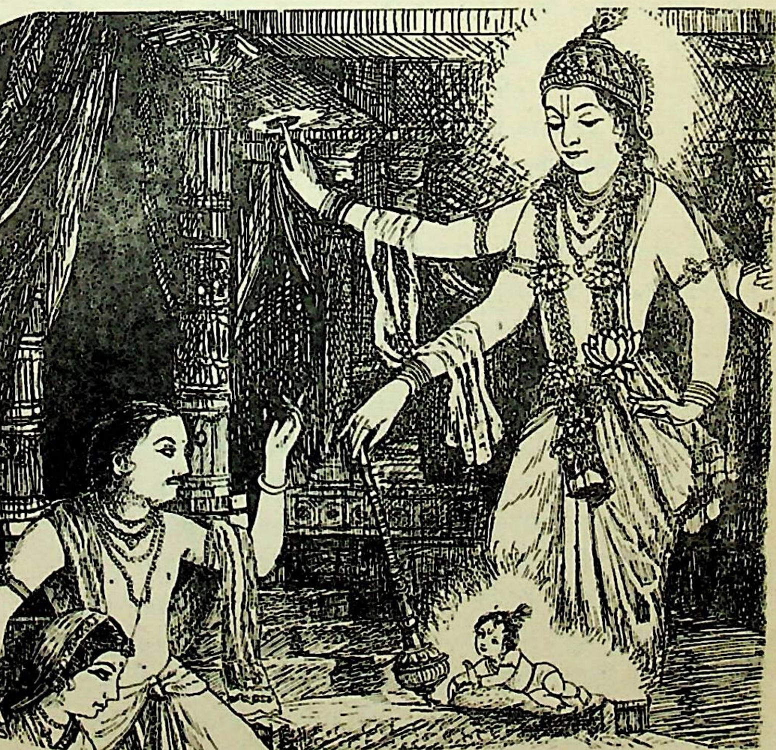
धाओं और सुखमय जीवन के साथ सुंदर मानव शरीर प्राप्त करने का सुअवसर मिला है। इस सुअवसर का उपयोग इससे भी श्रेष्ठ जीवन प्राप्त करने के लिए होना चाहिए और यह तपस्या के द्वारा कार्यान्वित हो सकता है। इस समय हम इन भौतिक शरीरों में स्थित हैं किंतु यदि हम कृष्णभावनाभावित (कृष्ण-भक्त) होने की प्रक्रिया अपना लें तो हमारी चेतना पवित्र हो जाए। यद्यपि जन्म से अमेरिकी और यूरोपीय, जो तरुण छात्र स्वेच्छा से श्रीकृष्ण भावनामृत का अभ्यास कर रहे हैं, वे अत्यंत प्रसन्न हैं। श्रीकृष्णभावनामृत की प्रक्रिया कष्टसाध्य नहीं अपितु आनंददायक है। अब वे अनुभव कर रहे हैं कि पवित्रीकृत जीवन से पशु जीवन और मानव जीवन का अंतर स्पष्ट होता है।

यदि हम अपने जीवन को केवल श्रीकृष्णभावनामृत के आधारभूत नियमों का पालन करते हुए पवित्र बनाएँ, तो हम शनैः शनैः अपनी आध्यात्मिक स्थिति को प्राप्त कर लेंगे जो संपूर्णतया पवित्र है। श्रीकृष्णभावनामृत के आधारभूत नियम चार हैं— १. अनुचित यौन संबंधों का परित्याग २. मांसाहार का त्याग ३. मादक द्रव्यों का त्याग और ४. द्यूत (जुआ) का त्याग। महर्षि ऋषभदेव ने अपने पुत्रों से कहा था कि एक बार अपना जीवन शुद्ध बना लेने पर उन्हें असीम आनंद की प्राप्ति होगी। हम सभी शांति और आनंद के अधिकारी हैं किंतु इस भौतिक जगत् में हमें जो शांति और आनंद दिखाई देते हैं, वे सीमित हैं। यदि हम केवल अपने जीवन को पवित्र बना लें और आध्यात्मिक जीवन प्राप्त कर लें तो हमें असीम शांति और आनंद का अनुभव होगा।

आध्यात्मिक जगत् शुष्क या आकारहीन नहीं है। जैसा कि पूर्व में बताया जा चुका है, इस जगत् में विचित्रता और विविधता है। वैकुंठ में आध्यात्मिक आनंद के एक अंश का अनुभव नृत्य के आनंद का अनुभव है। वहाँ भी तरुण युवक-युवतियाँ हैं। वस्तुतः वहाँ वृद्धावस्था, रोग, मृत्यु और जन्म की पीड़ा जैसी कोई वस्तु नहीं है। यदि हम असीम आनंद, ज्ञान और

सनातन जीवन के भागी होना चाहते हैं, जो आध्यात्मिक जगत् में हमारी संपत्ति है, तो हमें यह जीवन इंद्रियतृप्ति के लिए कठिन परिश्रम करते हुए और सुअरों की उपासना करते हुए नष्ट नहीं करना चाहिए।

हमें एक ऐसी जीवन-पद्धति को स्वीकारना चाहिए जो श्रीकृष्ण भावनामृत के विकास के लिए अर्पित हो और तब हमें असीम सुख और आनंद प्राप्त होगा। यही श्रीकृष्णभावनामृत अभियान का सार तत्व है।



अध्याय–२

आनंद के लिए कठिन संघर्ष

अपौरुषेय शास्त्रों में भगवान् को "सच्चिदानन्द विग्रह" कहा गया है। "सत्" अर्थात् सनातन, "चित्" अर्थात् पूर्ण ज्ञान स्वरूप और "आनंद" अर्थात् पूर्णतया आह्लादमय। विग्रह का अर्थ है कि उनका व्यक्तित्व है अर्थात् श्रीभगवान् एक व्यक्ति हैं। इसी प्रकार भगवान् एकमात्र अद्रितीय हैं। वे पूर्ण ज्ञानमय हैं, पूर्ण आनंदमय हैं और अपने व्यक्तित्व का पूर्ण अनुभव रखते हैं। कोई भी न उनके समान है और न उनसे बड़ा है। यह संक्षेप में भगवान् का स्वरूप है।

जीवगण उन्हीं श्रीभगवान् के सूक्ष्म रूप हैं और इसलिए अपने कार्य-कलाप से वे सत्, चित् और आनंद को प्राप्त करने की इच्छा रखते हैं। मानव समाज में ये इच्छाएँ सुस्पष्ट हैं। उच्चतर लोकों (स्वर्गलोक, जन-लोक, तपोलोक, महर्लोक, ब्रह्मलोक आदि) में जीवगण अधिक लंबी आयु, अधिक ज्ञान और अधिक आनंदमय अस्तित्व रखते हैं। किंतु भौतिक ब्रह्मांड के उच्चतम लोक में भी, जहाँ आयु की अवधि और आनंदोपभोग का स्तर पृथ्वीलोक की अपेक्षा हजार-हजार गुना अधिक है, वृद्धावस्था, रोग और मृत्यु विद्यमान हैं। अतः वहाँ भी आनंदोपभोग का स्तर श्रीभग-वान् के साहचर्य में प्राप्त आनंद के समक्ष नगण्य है। विभिन्न संबंधों (शांत दास्य, सख्य आदि) से भगवान् के प्रति की गई भक्ति के आनंद की तुलना में निर्गुण निराकार ब्रह्म की अनुभूति का आनंद भी समुद्र की तुलना में एक बूंद के समान नगण्य है। इस भौतिक जगत् में प्रत्येक प्राणी सर्वोच्च स्तर के आनंदोपभोग की कामना करता है किंतु फिर भी यहाँ सब दुखी हैं। अन्य

उच्चतर लोकों में लंबी आयु की अवधि, आनंदोपभोग के उच्चतर स्तर की सुविधाएँ होते हुए भी, यह दुख विद्यमान है। इसका कारण भौतिक प्रकृति के नियम हैं। हम जीवन की अवधि और उसके स्तर को उच्चतम स्थिति पर ले जा सकते हैं किंतु फिर भी भौतिक प्रकृति के नियमों के कारण हम दुखी हो जाएँगे। इसका कारण यह है कि आनंद का जो स्तर हमारे शुद्ध स्वरूप के अनुकूल है, वह आनंद भौतिक क्रियाकलापों से प्राप्त होने वाले आनंद अथवा सुख से भिन्न है। यह जीव सच्चिदानंदविग्रह भगवान् की परा (आध्यात्मिक) शक्ति का एक सूक्ष्म कण है। अतः जीव में भी आध्यात्मिक आनंद उठाने की प्रवृत्ति है किंतु दुर्भाग्यवश यह जीव अपने लिए भौतिक प्रकृति के विजातीय वातावरण से आनंद का उपभोग करने की निष्फल चेष्टा कर रहा है।

एक मछली, जिसे जल से बाहर निकाल लिया गया है, भूमि पर किसी भी प्रकार के सुविधाजनक प्रबंध से सुखी नहीं रह सकती। उसे तो जल ही मिलना चाहिए। इसी प्रकार सूक्ष्म सच्चिदानंद जीवात्मा इस भौतिक जगत् में अपने भ्रमित मस्तिष्क से परिकल्पित कितनी भी योजनाओं से वास्तव में सुखी नहीं हो सकता। इसलिए उसे एक भिन्न प्रकार का ही आनंद मिलना चाहिए, जो तत्वतः आध्यात्मिक है। हमारी आकांक्षा इस आध्यात्मिक आनंद के उपभोग के लिए होनी चाहिए, न कि इस क्षणिक सुख के लिए। कुछ दार्शनिकों का मत है कि आध्यात्मिक आनंद अथवा परानंद की प्राप्ति लौकिक सुख और लौकिक जीवन का निषेध करने से होती है। श्रीपाद शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित भौतिक कर्मों का सैद्धांतिक निषेध, मानव जाति के किसी नगण्य समुदाय के लिए लाभकारी हो सकता है किंतु मनुष्य मात्र के लिए आध्यात्मिक आनंद की प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ और निश्चित मार्ग, भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु के द्वारा प्रतिपादित भक्ति-मार्ग ही है। यह भक्ति भौतिक प्रकृति का स्वरूप ही बदल देने की क्षमता रखती है। भौतिक सुख के लिए लालायित होना लोलुपता है और लोलुपतापूर्ण कर्मों का परिणाम अंततः निराशा है। सर्प का शरीर बड़ा शीतल

होता है किंतु यदि कोई मनुष्य इस शीतलता का आनंद लेने की इच्छा से किसी विषैले सर्प को गले में डाल ले तो निश्चय ही वह उसके विषमय दंश से मारा जाएगा। भौतिक इंद्रियाँ सर्प के समान हैं; भौतिक सुखों का भोग निश्चय ही हमारे आध्यात्मिक स्वरूप को नष्ट कर देगा। अतः एक बुद्धिमान् व्यक्ति की आकांक्षा आनंद के सच्चे स्रोत की खोज के लिए होनी चाहिए।

इस स्रोत को प्राप्त करने के लिए हमें यह जानने की आवश्यकता है कि वह आनंद वस्तुतः है क्या ? उस मूर्ख मनुष्य की कहानी तो प्रसिद्ध है जो गन्ने से अपरिचित था। जब उसने अपने मित्रों से गन्ने की पहचान पूछी तो उसे अधूरा उत्तर मिला कि गन्ना बाँस की लाठी जैसा होता है। फलतः उसने बाँस के डंडों से रस निकालने का प्रयत्न आरंभ किया और जैसा कि स्वभाविक था, वह अपने प्रयत्न में विफल रहा। यही आशा भ्रमित जीवात्मा की है जो शाश्वत आनंद की खोज इस भौतिक जगत् में करता है जबकि यह जगत् न केवल दुखमय है अपितु अस्थायी और चपल है। भगवद्गीता में इस भौतिक जगत् को दुखमय बताया गया है —

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥

"हे अर्जुन, इस भौतिक जगत् में सर्वोच्च ब्रह्मलोक से लेकर निम्नतम लोक तक सभी दुखमय हैं, जहाँ जन्म और मृत्यु का चक्र चलता रहता है किंतु मेरे परम धाम को प्राप्त करके जीव फिर जन्म नहीं लेता।" (गीता ८.१६)

आनंद की आकांक्षा स्वाभाविक और उत्तम है किंतु जड़ पदार्थों से तथाकथित वैज्ञानिक प्रयासों के द्वारा इसे प्राप्त करना एक भ्रमपूर्ण प्रयत्न है जिसका परिणाम केवल निराशा है। जो लोग मूढ़ हैं वे इसे नहीं समझ सकते। एक मूढ़ पुरुष लोभवश भौतिक सुख के लिए आकृष्ट हो जाता है, इसका उल्लेख भी भगवद्गीता में हुआ है —

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥

"आसुरी वृत्ति वाले सोचा करते हैं : 'आज मैंने इतना धन प्राप्त कर लिया, मैं अपनी योजनाओं (मनोरथों) के अनुसार और अधिक प्राप्त करूँगा। इतना धन मेरे पास है और भविष्य में यह धन और भी बढ़ जाएगा।'" गीता (१६.१३)

हमारी इंद्रियों की तुष्टि के लिए इस नास्तिक अनीश्वरवादी सभ्यता का बड़ा जंजाल फैलाया गया है और अब हम सब इस रिक्त सीपी के निर्वाह के लिए धन को लेकर पागल हुए जा रहे हैं। प्रत्येक व्यक्ति धन के पीछे इसलिए दौड़ रहा है कि वह इंद्रियतृप्ति के साधनों के आदान-प्रदान का माध्यम है। अतः स्पष्ट है कि इस स्वर्णमृग के पीछे भाग दौड़ के इस वातावरण में शांति की आशा करना एक सत्युग के स्वप्न के समान है। जब तक मनुष्य में इंद्रियतृप्ति का थोड़ा सा भी संस्पर्श या इच्छा रहेगी तब तक शांति भी दूर ही दूर रहेगी। इसका कारण यह है कि हम सब स्वभाव से श्रीभगवान् के नित्य दास हैं। अतः हम अपने निजी हित के लिए किसी वस्तु से सुख नहीं उठा सकते। अतएव हमारे लिए आवश्यक है कि हम इंद्रियों का उपयोग भगवान् के लिए करना सीखें। केवल इसी प्रक्रिया से अत्यंत इच्छित शांति प्राप्त हो सकती है। शरीर का कोई एक अंग स्वयं स्वतंत्र रूप से सुखी नहीं रह सकता। वह समस्त शरीर की सेवा करके ही अपने को सुखी रख सकता है। भगवान् पूर्ण हैं और हम उस पूर्ण के अंश हैं किंतु हम सब अपने ही हित के कार्यकलाप में अत्यधिक व्यस्त हैं। कोई भी व्यक्ति श्रीभगवान् की सेवा के लिए तैयार नहीं है। हमारी भौतिक जीवन में बद्धता और उससे उत्पन्न दुख का यही मूल कारण है। अपने गगनचुंबी भवन के कार्यालय में बैठे सर्वोच्च अधिकारी से लेकर सड़क पर स्थित कुली तक, सब न्याय या अन्याय से धन एकत्र करने के विचार से ही कार्य कर रहे हैं। वस्तुतः यह सब अनुचित है क्योंकि मनुष्य का केवल अपने निजी स्वार्थ के लिए कार्य करना न्यायरहित और विनाशकारी, दोनों है।

यहाँ तक कि केवल अपने स्वार्थ के लिए आध्यात्मिक अनुभूति का अभ्यास करना भी अनुचित और हानिकारक है। निष्कर्ष यह है कि समस्त कर्म श्रीकृष्ण की तुष्टि और उनकी सेवा के लिए उन्मुख होने चाहिए।

जो लोग श्रीभगवान् की दिव्य सेवा और भक्ति में संलग्न नहीं हैं, भ्रमवश सोचते हैं कि वे दिन पर दिन अधिकाधिक धन एकत्र करते जा रहे हैं।

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थ संचयान् ॥

"आसुरी प्रवृत्ति वाले लोग आशारूप हजारो बंधनों में बँधे हुए और काम-क्रोध के परायण हुए इंद्रियतृप्ति के लिए अन्यायपूर्वक धन-संचय करने की चेष्टा करते हैं।" (गीता १६.१२)

परिणामतः विश्व में यद्यपि धन का अभाव नहीं है किंतु शांति का अभाव अवश्य है। धनोपार्जन के लिए बहुत बड़ी जन–शक्ति को दिग्भ्रमित किया जा रहा है। सामान्य जनता की अधिकाधिक रुपये कमाने की क्षमता बढ़ गई है किंतु इसका दीर्घकालिक परिणाम यह हुआ है कि इस अनियंत्रित और अन्यायपूर्ण मुद्रास्फीति से पूरे विश्व की अर्थ–व्यवस्था बिगड़ गई और उसने ऐसे सस्ते धनोपार्जन के फल को ही नष्ट करने के लिए हमें बड़े–बड़े बहुमूल्य शस्त्रास्त्र बनाने के लिए उकसाया है। धनोपार्जन करने वाले बड़े देशों के नेता लोग वास्तव में शांति का अनुभव नहीं कर रहे हैं अपितु आणविक अस्त्रों के द्वारा तत्काल विनाश से रक्षा की योजनाएँ बना रहे हैं। वास्तव में इन भयंकर अस्त्रों के परीक्षण के रूप में विपुल धन–राशि समुद्र में फेंकी जा रही है। ऐसे परीक्षण न केवल भारी आर्थिक मूल्य पर किए जा रहे हैं, अपितु अनेक प्राणियों के जीवन के मूल्य पर भी हो रहे हैं। इस प्रकार विश्व के राष्ट्र कर्मफल के नियमों से बँधते जा रहे हैं। जब लोग इंद्रियतृप्ति की भावना से परिचालित होते हैं, तो जो भी धन कमाया जाता है, वह नष्ट हो जाता है, क्योंकि उसका व्यय मानव जाति के संहार के लिए

होता है। इस प्रकार मनुष्य के भगवान् से विमुख होने के कारण प्रकृति के अटल नियमानुसार मानवजाति की शक्ति व्यर्थ नष्ट होती है क्योंकि वस्तुतः श्रीभगवान् ही समस्त शक्तियों के स्वामी हैं। धन–संपत्ति की पूजा होती है और उसे भाग्य की देवी माता "लक्ष्मी" कहा जाता है। लक्ष्मीजी का कर्तव्य भगवान् श्रीनारायण की सेवा करना है जो समस्त नरों या जीवधारियों के स्रोत हैं। नरों का कर्तव्य भी भाग्य की देवी लक्ष्मीजी के निर्देशन में श्रीनारायण की सेवा करना है। कोई मनुष्य भाग्यलक्ष्मी का उपभोग श्रीनारायण की सेवा के बिना नहीं कर सकता। अतः जो व्यक्ति लक्ष्मीजी का उपभोग अनीतिपूर्वक करता है, उसे प्रकृति के अटल नियमों के द्वारा दंडित होना पड़ता है। ये नियम निश्चयपूर्वक बताते हैं कि धन–संपत्ति स्वयं स्वतंत्र रूप में शांति और संपन्नता नहीं लाती अपितु विनाश का कारण होती है।

अन्यायपूर्वक एकत्र किया हुआ धन अब कृपण (कंजूस) नागरिकों से, राज्य–करों की विभिन्न प्रणालियों द्वारा छीना जा रहा है। यह धन संभावित गृह युद्ध और अंतर राष्ट्रीय युद्धों के निमित्त एक कोष के लिए एकत्र किया जाता है किंतु इसका ध्वंसात्मक रूप में अपव्यय होता है। अब नागरिक लोग केवल उतने धन से संतुष्ट नहीं होते जो उनके परिवार के उत्तम रीति से भरण–पोषण और आध्यात्मिक ज्ञान के विकास के लिए पर्याप्त हो जबकि ये दोनों बातें मानव जीवन की मौलिक आवश्यकताएँ हैं। अब प्रत्येक व्यक्ति अपनी कभी तुष्ट न होने वाली कामनाओं की पूर्ति के लिए अपरिमित धन चाहता है। लोगों की अवैध (गैरकानूनी) कामनाओं के अनुपात में उनका एकत्र धन माया के दलालों द्वारा छीन लिया जाता है। ऐसे लोगों के धन–नाश के कुछ माध्यम हैं, डॉक्टर, वकील, कर–अधिकारी (आहर्ता), विभिन्न संस्थाएँ, संविधान, तथाकथित धर्माचार्य, अकाल, भूकंप और ऐसी ही अनेक विपत्तियाँ। एक कंजूस को, जिसने श्रीकृष्णभावनामृत संघ की अंग्रेजी मुखपत्रिका "बैक टू गॉडहेड" (भगवद्दर्शन) खरीदने में आनाकानी की थी, एक सप्ताह की औषधि के लिए उसे २००० डॉलर (लगभग

१६,००० रुपये) व्यय करने पड़े और फिर भी वह मर गया। एक दूसरे व्यक्ति ने, जिसने भगवान् की सेवा में एक सेण्ट भी व्यय करने से नाहीं कर दी थी, अपने ही परिवार के सदस्यों के बीच अभियोग (मुकद्दमेबाजी) में हजारों डॉलर नष्ट कर दिए। श्रीभगवान् की माया के आदेश से आए हुए ऐसे कितने ही उदाहरण दिए जा सकते हैं। वास्तव में यह प्रकृति का नियम है। यदि धन श्रीभगवान् की सेवा में नहीं लगाया जाता, तो यह निश्चय ही बिगड़ी हुई समस्याओं या बीमारियों के रूप में व्यय हो जाता है। मूर्ख लोगों के पास ऐसी घटनाएँ देखने की आँखे नहीं होतीं, इसलिए श्रीभगवान् के नियम उन्हें मूर्ख बनाते हैं।

प्रकृति के नियम हमें उससे अधिक धन स्वीकार करने की अनुमति नहीं देते, जितना हमारे पर्याप्त भरण-पोषण के लिए अपेक्षित्त है। प्रकृति ने अपने नियमों के अनुसार प्रत्येक जीवधारी को उसके भोजन और आवास का उचित भाग प्रदान किया है किंतु मनुष्यों की कभी न तृप्त होने वाली लिप्सा ने समस्त प्राणियों के परमपिता श्रीभगवान् द्वारा स्थापित व्यवस्था को अस्तव्यस्त कर दिया है। श्रीभगवान् की व्यवस्था से नमक का एक महासागर ही विद्यमान है क्योंकि नमक प्राणी के लिए आवश्यक है। इसी प्रकार श्रीभगवान् ने प्राणियों के लिए अनिवार्य, पर्याप्त वायु और प्रकाश का भी प्रबंध किया है। कोई भी व्यक्ति प्रकृति के भंडार से कितना भी नमक एकत्र कर सकता है किंतु वैधानिक रूप से हम उससे अधिक नमक नहीं खा सकते, जितना हमें चाहिए। यदि हम अधिक नमक डाल देते हैं तो हमारा भोजन बिगड़ जाता है और कम डालते हैं तो भोजन स्वादिष्ट नहीं हो पाता। किंतु यदि हम उतना ही नमक प्रयोग करें जितना आवश्यक है, तो हमारा भोजन भी स्वादिष्ट बनेगा और हम स्वस्थ भी रहेंगे। आज के युग में इस बात पर बड़ी चिंता व्यक्त की जा रही है कि हमारे प्राकृतिक स्रोत दूषित होने के साथ ही साथ समाप्त भी होते जा रहे हैं। सच बात यह है कि सब वस्तुएँ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं किंतु दुरुपयोग और लालच के कारण वे नष्ट हो रही हैं। संसार के प्रकृति-संरक्षक और जीव-वनस्पतिवेत्ता

जो बात नहीं समझते वह यह है कि संसार की सब वस्तुएँ मनुष्य जाति की अतृप्त कामनाओं से तब तक नष्ट होती रहेंगी, जब तक मनुष्य श्रीकृष्णभावनामृत की पद्धति को नहीं अपना लेता। श्रीकृष्णभावनामृत के बिना अस्तित्व के किसी भी स्तर पर शांति प्राप्त करना असंभव है।

अतएव मनुष्य अपनी कभी तृप्त न होने वाली कामना और लोलुपताओं के कारण दुखी है। न केवल मनुष्य दुखी है अपितु वह पृथ्वीमाता जिस पर मनुष्य रहता है और जिसका उल्लेख श्रीमद्भागवत में गोमाता के रूप में किया गया है, दुखी है। एक बार भारत में एक प्रसिद्ध स्वामीजी से पूछा गया कि क्या परमात्मा या विधाता मानव जाति के दुख के लिए उत्तरदायी है ? स्वामीजी ने उत्तर दिया कि यह सब दुख श्रीभगवान् की लीला है। आगे प्रश्न किया गया कि किसी प्राणी को कर्मफल भोगना ही क्यों पड़ता है। स्वामीजी प्रश्नकर्ताओं को संतोषजनक उत्तर न दे सके। अद्वैतवादी और निराकारवादी, जो केवल जीव और ब्रह्म की एकता के सिद्धांत को मानकर चलते हैं, ऐसे प्रश्नों का संतोषजनक उत्तर नहीं दे सकते। ऐसा अपूर्ण उत्तर किसी प्राणी के हृदय को कदाचित् ही संतुष्ट कर सके। समस्त शास्त्रों में श्रीभगवान् को लीलापुरुषोत्तम कहा गया है जो अपनी स्वरूप शक्ति से सदा दिव्य लीलाएँ करते रहते हैं। वेदांत सूत्र में उन्हें **आनन्दमयोभ्यासात्** कहकर वर्णित किया गया है। अद्वैतवादी और निराकारवादी अपने अद्वैत और निराकार के अपूर्ण सिद्धांत के समर्थन में इस सूत्र की विविध प्रकार से व्याख्या करने में बड़ी कठिनाई का अनुभव करते हैं। किंतु यह तथ्य जहाँ का तहाँ शेष रहता है कि आनंद का उपभोग अकेले नहीं किया जा सकता। यह एक प्रसिद्ध बात है कि विविधता ही मनोरंजन की जननी है। उदाहरण के लिए वे नगर आकर्षक माने जाते हैं, जिनमें विविध वस्तुएँ हों। मनुष्य जाति स्वाभाविक रूप से विविधता से आकर्षित होती है, जैसे लुभावनी सड़कें, सुंदर भवन, सिनेमा, उद्यान (पार्क), वाहन, व्यापार, जीविका के साधन, भोज्य सामग्री आदि। इतनी विविधता के

उपरांत अंग्रेज कवि 'काउपर' ने एक बार कहा था, "नगर को मनुष्य ने बनाया किंतु ग्रामीण अँचलों को स्वयं ईश्वर ने बनाया है।" ग्रामीण अंचल भी प्राकृतिक विविधता से भरे होते हैं किंतु वहाँ थोड़ा अनगढ़पन है। जबकि नगरों में यह विविधता एक आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति से व्यक्त की जा सकती है। काउपर जैसे कवि ग्रामीण अंचल की विविधता से आकर्षित होते हैं। किंतु किसी भी दृष्टि से देखें, विविधता ही वह वस्तु है जो लोगों को ग्राम और नगर की ओर आकृष्ट करती है। वेदांत सूत्र के पूर्वोक्त वाक्य की यही समुचित व्याख्या है।

बहुत से तथाकथित स्वामी, जो प्रायः नगरों की ओर आकृष्ट हो जाते हैं, बहुधा सभा और स्त्रियों की मित्रता में आनंद खोजते हैं। सामान्यतया वे वन के प्राकृतिक सौंदर्य से आकृष्ट नहीं होते, यद्यपि वे ऐसी वेशभूषा धारण करते हैं जो वनवासियों के लिए उपयुक्त है। ऐसे स्वामी लोग भौतिक पदार्थों में अनेक प्रकार के आनंद को खोजते हैं क्योंकि उन्हें आध्यात्मिक जीवन के विलक्षण एवं विविधतापूर्ण आनंद का कुछ पता नहीं होता। एक ओर तो वे भौतिक पदार्थों की विविधता मे आनंद लेते हैं, दूसरी ओर उस परमतत्व की विविधता और विलक्षणता का निषेध करते हैं। चूंकि वे अद्वैत और निर्गुण—निराकार से सिद्धांत के लिए प्रतिबद्ध हैं, वे इस बात का खंडन करते हैं कि जो बात भौतिक पदार्थों पर प्रयुक्त है, वह आत्मा पर भी प्रयुक्त हो सकती है। उनके अनुसार आत्मा भौतिक पदार्थों की अस्वीकृति है। किंतु वस्तुतः तथ्य यह है कि आत्मा भौतिक पदार्थों का निषेध नहीं है अपितु भौतिक पदार्थ आत्मा के विकृत प्रतिबिंब हैं। विविधता का सच्चा आनंद सापेक्षिकता का भ्रम उत्पन्न किए बिना आत्मा में ही विद्यमान है। दूसरी ओर जड़ भौतिक पदार्थ, चेतन आत्मा के संपर्क से उसी आध्यात्मिक विविधता (विलक्षणता) का मिथ्या प्रतिनिधित्व या मिथ्या प्रतिबिंब प्रस्तुत करते हैं जिसका अद्वैतवादी तथाकथित संन्यासियों द्वारा इतनी दृढ़ता से निषेध किया जाता है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, श्रीभगवान् स्वभावतः सच्चिदानंद-

विग्रह हैं। अतः वे अपनी भिन्न-भिन्न शक्तियों, अंशों, विभिन्नांश एवं स्वांश के द्वारा स्वयं का विस्तार करते हैं। भगवान् परम सत्यस्वरूप हैं, अद्वितीय हैं। किंतु उनके स्वरूप में उनकी विविध शक्तियाँ, अंश, स्वांश भी विद्यमान हैं, जिनका साथ ही साथ भगवान् से भेद है और अभेद भी। भगवान् स्वभावतः आनंदमय हैं, अतः वे स्वयं का विस्तार विविध प्रकार से करते हैं और इस विस्तार के कार्यों को उनकी दिव्य लीला कहा जाता है। किंतु ये लीलाएँ अज्ञानमय और जड़ नहीं हैं। उनसे पूर्ण तात्पर्य, स्वतंत्रता, क्रिया और प्रतिक्रिया की स्वाधीनता का प्रमाण मिलता है। परम सत्यस्वरूप भगवान् की विविध शक्तियों की क्रिया-प्रतिक्रियाओं की जटिलताएँ एक बहुत बड़े विज्ञान का विषय हैं। इस विज्ञान को दिव्य भगवद्-विज्ञान कहते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता इसी विज्ञान में रुचि रखनेवाले जिज्ञासुओं के लिए प्रथम ग्रंथ है। प्रत्येक बुद्धिमान् मनुष्य को इस दिव्य विज्ञान में रुचि लेनी चाहिए। वास्तव में मनुष्य जीवन का एकमात्र लक्ष्य ऋषियों की संमति में, इस विज्ञान को जानना ही है। वेदांत सूत्र का प्रथम वाक्य है– **अथातो ब्रह्म जिज्ञासा** अर्थात् "ब्रह्म के विषय में जिज्ञासा करने का यही उपयुक्त समय है।" मानव जीवन स्वभावतः दुखमय है और निम्न योनियों के जीवों के जीवन तो और भी कष्टमय हैं। भले बुरे की समझ रखने वाला कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति समझ सकता है कि इस भौतिक संसार में जीवन दुखों से पूर्ण है और कोई भी व्यक्ति इन दुखों की क्रिया-प्रतिक्रियाओं से मुक्त नहीं है। यह जीवन के प्रति निराशात्मक दृष्टिकोण नहीं है अपितु एक वास्तविकता है, जिसके प्रति हमें आँखे नहीं मूंदनी चाहिए। जीवन के दुखों को तीन श्रेणियों में बाँटा गया है। अपने शरीर और मन से उत्पन्न दुख "दैहिक" हैं। अन्य प्राणियों से प्राप्त दुख "भौतिक", प्राकृतिक विपत्तियों के कारण आए हुए दुख "दैविक" हैं। एक बुद्धिमान् मनुष्य को इन दुखों को दूर करने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिए और जीवन में सुखी बनना चाहिए। चाहे अनजाने सही, हम सभी इन दुखों से छुटकारा और शांति प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहे हैं और

उच्चतर बौद्धिक वर्ग में इन दुखों से मुक्ति के लिए चतुरतापूर्ण उपायों और योजनाओं से प्रयत्न किए जा रहे हैं। किंतु जो शक्ति बुद्धिमान् से बुद्धिमान् व्यक्ति के भी सब उपायों और योजनाओं को व्यर्थ कर देती है वह शक्ति है मायादेवी की। इस भौतिक जगत् में कर्म का सिद्धांत या क्रिया–प्रतिक्रिया का फल इस परम शक्तिशालिनी "माया" से नियंत्रित होता है। माया के कार्यकलाप निश्चित सिद्धांतों और नियमों के अनुसार श्रीभगवान् के निर्देशन में निश्चित उद्देश्य को लेकर चलते हैं। प्रकृति प्रत्येक कार्य सावधानी से करती है, उसमें कोई दृष्टिहीनता या आकस्मिकता नहीं होती। यह भौतिक शक्ति "दुर्गा" भी कही जाती है, जिसका तात्पर्य है कि यह एक ऐसी शक्ति है, जिसका अतिक्रमण करना बहुत कठिन है। कोई भी व्यक्ति अपनी बड़ी से बड़ी बालसुलभ (बचकानी) योजनाओं से "दुर्गा" के अटल नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकता। मनुष्य जीवन के दुखों से छुटकारा पाना जहाँ एक ओर एक अत्यंत कठिन कार्य है, वहाँ दूसरी ओर वह एक अत्यंत सरल कार्य भी है। जब तक जीवात्माएँ, जो प्रकृति के नियमों से बँधी हुई हैं, स्वयं तीन तापों से मुक्त होने की योजनाएँ बनाती रहेंगी, तब तक कोई समाधान नहीं होगा। इनके सफल समाधान केवल वही हैं जो श्रीमद्भगवद्गीता में बताए गए हैं और हमें अपने ही हित में अपने व्यावहारिक जीवन में उन्हें ग्रहण करना होगा। श्रीभगवान् की लीला में भौतिक प्रकृति के उक्त तीन तापों का कोई स्थान नहीं है। जैसा पहले कहा जा चुका है, श्रीभगवान् सदा आनंदमय हैं और उनकी दिव्य लीलाएँ उनसे भिन्न नहीं हैं। श्रीभगवान् परम सत्य हैं; अतः उनके नाम, गुण, रूप, यश और लीलाएँ उनसे अभिन्न हैं। इस प्रकार उनकी लीलाएँ मानवीय दुखों के समकक्ष नहीं कही जा सकतीं जैसा कि उन तथाकथित स्वामीजी का तर्क है। वस्तुतः भगवान् की लीलाएँ मनुष्यों के वास्तविक संतापों और दुखों से परे हैं।

मानव जाति के दुखों का कारण उस भेदबुद्धि या किंचित् स्वाधीनता का दुरुपयोग है, जो प्रत्येक जीवात्मा को दी गई है। मायावादी

स्वामी या बुद्धिवादी विचारक लोग अद्वैतवाद के सिद्धांत से चिपके रहने के कारण, मानव जाति के दुखों को भगवान् की लीला कहकर टाल देते हैं किंतु वास्तव में ये दुख, भटकी हुई जीवात्माओं को मायादेवी के द्वारा प्रदत्त दंड हैं। जीवों के रूप में हम श्रीभगवान् के अंश हैं। वास्तव में हम उनकी परा शक्ति से संबद्ध हैं। ऐसी स्थिति में हम अपने जीवन की मुक्तावस्था में श्रीभगवान् की दिव्य लीलाओं में भाग ले सकते हैं। किंतु जब तक हम भगवान् की अपरा शक्ति के संपर्क में कर्मसिद्धांत के अधीन हैं, हमारे सारे दुख, हमारी क्षुद्र स्वाधीनता के घोर दुरुपयोग से उत्पन्न हमारी ही करनी का फल है। निर्गुण निराकारवादी (अद्वैतवादी) दार्शनिक यह कहकर लोगों को केवल भ्रमित करते हैं कि उक्त तीन ताप भगवान् की लीला के अंतर्गत हैं। ऐसे अद्वैतवादी दार्शनिकों ने अपने अनुयायियों को इसलिए भ्रमित कर रखा है कि इन दार्शनिकों की यह भ्रांत धारणा है कि भगवान् और जीवात्मा सब प्रकार से समान हैं। यह सत्य है कि जीवात्मा गुण–धर्म में तो श्रीभगवान् के समान है किंतु उन गुण–धर्मों की मात्रा में भगवान् के समान नहीं है। यदि प्रत्येक जीवात्मा गुण–धर्मों की मात्रा में भगवान् के समान होता तो वह भौतिक प्रकृति के नियमों के अधीन कभी न होता। हमें जानना चाहिए कि भौतिक प्रकृति श्रीभगवान् की इच्छा के अधीन है, इसलिए भगवान् भौतिक प्रकृति के नियमों के अधीन नहीं हो सकते। यह तो श्रीभगवान् की स्वरूप शक्ति के विरुद्ध होगा कि वे अपनी ही अपरा (निम्न) शक्ति (प्रकृति) के अधीन हों।

मत: परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

"हे धनंजय (अर्जुन), मुझसे श्रेष्ठ अन्य कोई भी सत्य नहीं है। सूत्र गूथी हुई मणियों की भांति यह सब कुछ मेरे आश्रित है।" (गीता ७.७)

भगवान् श्रीकृष्ण फिर कहते हैं –

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥

"प्रकृति के तीन गुणों—सत्व, रज और तम से विमोहित यह सारा संसार, इन गुणों से परे मुझ अविनाशी को नहीं जानता है।" (गीता ७.१३) जिन जीवात्माओं को भौतिक जगत् के दुख प्राप्त होते हैं, वे उनकी उन अनधिकार चेष्टाओं के फल हैं। यह भगवद्गीता (१६.१९) का निर्णय है—

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥

"उन द्वेष करने वाले दुराचारी तथा क्रूरकर्मी नराधमों को मैं भव-सागर में निरंतर आसुरी योनियों में ही गिराता हूँ।"

अंशों का कार्य संपूर्ण वस्तु की सेवा करना है किंतु जब वे अपनी स्वतंत्रता का दुरुपयोग करते हैं तब वे उसी प्रकार भौतिक जगत् के नियमों से दुखों के भोक्ता बनते हैं, जिस प्रकार अपराधी लोग पुलिस की कार्य-वाहियों के भागी बनते हैं। राजा अपने नागरिकों को अपना अंग समझता है किंतु जब कोई नागरिक अपनी अपेक्षित स्वाधीनता का दुरुपयोग करता है, तो राज्य के पुलिस के नियंत्रण में रख देता है। कारागार के बाहर एक नागरिक का जीवन और कारागार के अंदर एक नागरिक का जीवन, दोनों एक ही नहीं हैं। इसी प्रकार भौतिक प्रकृति के कारागार के अंदर जीवात्माओं के दुखों को भगवान् की लीलाओं के समकक्ष नहीं ठहराया जा सकता, जो सच्चिदानंद की परम स्वाधीन अवस्था में होती हैं।

कोई शासन व्यवस्था अपने नागरिकों से यह नहीं चाहती कि वे ऐसा आचरण करें जिससे उन्हें जेल जाना पड़े और दुख भोगना पड़े। राज्य प्रशा-सन निस्संदेह कारागृहों का निर्माण करता है किंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि सरकार अपने नागरिकों को जेल भेजने के लिए उत्सुक है। अपितु, परोक्ष रूप से अवज्ञाकारी नागरिक लोग प्रशासन को कारागृह—निर्माण के लिए

बाध्य करते हैं। कारागृह प्रशासन के लिए प्रसन्नता का विषय नहीं है क्योंकि प्रशासन को इसके निर्माण और व्यवस्था में बहुत धन व्यय करना पड़ता है। इसके विपरीत सरकार कारागृहों को पूर्णतया समाप्त करने में प्रसन्नता का अनुभव करेगी यदि राज्य में अनुशासनहीन नागरिक न हों। इसी प्रकार यह भौतिक जगत् श्रीभगवान् द्वारा निर्मित है किंतु उनकी यह इच्छा नहीं है कि जीवात्मा को इस जगत् के प्रपंच में डाला जाय। जीवात्मा स्वयं ही इस जगत् के प्रपंच में पड़ने का निर्णय करती है। इसलिए हम कहेंगे कि इस भौतिक जगत् के निवासी उन मुक्तात्माओं से भिन्न हैं जो सदा भगवान् की अप्राकृत (दिव्य) लीलाओं में भाग लेते हैं। अद्वैतवादी (निराकार-वादी) दार्शनिकों को शाश्वत, आध्यात्मिक लोक के संपूर्ण स्वतंत्र जीवन का कुछ भी पता नहीं है। उनके अनुसार वैकुंठ जगत् केवल एक शून्य है। यह ऐसा ही है जैसा कि कारागृह के बंदियों का सोचना कि कारागृह के बाहर कोई जीवन नहीं। कारागृह के बाहर का जीवन निश्चय ही कारा-गृह के अंदर की गतिविधियों से भिन्न है किंतु ऐसा नहीं कि बाहर कुछ गतिविधियाँ ही नहीं हैं। आत्मा स्वरूपतः नित्य क्रियाशील है किंतु निरा-कारवादी लोग आध्यात्मिक जगत् में आत्मा की क्रियाशीलता का निषेध करते हैं। इस प्रकार वे कारागृह के जीवन के दुखों को श्रीभगवान् की लीला समझने की भूल करते हैं। इसका कारण उनका अल्प ज्ञान है।

भगवान् जीवात्मा के कर्मों और उनकी प्रतिक्रियाओं की सृष्टि कभी नहीं करते। भगवद्गीता में इस विषय को बहुत स्पष्टतया समझा दिया गया है –

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥
नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥

"देहरूपी नगरी का स्वामी देहबद्ध जीवात्मा कर्म अथवा कर्मफल

को नहीं रचता और न ही किसी को कर्म में प्रवृत्त करता है। यह सब तो प्रकृति के तीन गुणों का ही कार्य है। श्रीभगवान् किसी के भी पाप-पुण्य को ग्रहण नहीं करते; देहधारी जीवों के यथार्थ ज्ञान को अज्ञान ने ढक रखा है, इसी से वे मोह को प्राप्त हो रहे हैं।" (गीता ५.१४-१५)

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि मानवता के दुखों को न तो श्रीभगवान् की लीला समझा जाना चाहिए और न उन दुखों के लिए भगवान् को उत्तरदायी। श्रीभगवान् किसी प्राणी के पापों या पुण्यों के लिए कभी भी उत्तरदायी नहीं हैं। पाप कर्मों द्वारा हम अधिकाधिक दुखमय परिस्थितियों में पड़ते जाते हैं और पवित्र कर्मों द्वारा हम स्वयं को सुख के मार्ग पर अग्रसर करते हैं। इस प्रकार मनुष्य स्वयं ही अपने भौतिक दुख-सुख का निर्माता है। भगवान् किसी को कर्म की प्रतिक्रियाओं में लिप्त नहीं करना चाहते, चाहे वे सुकर्म हों या दुष्कर्म। वे तो केवल यह चाहते हैं कि प्रत्येक प्राणी अपने घर, भगवान् के धाम पहुँच जाए। जब तक हम श्रीभगवान् से अपने शुद्ध सनातन संबंधों को जागृत नहीं करेंगे, तब तक अपने कर्मों के विषय में निश्चय ही भ्रमित होते रहेंगे। हमारे सभी कर्म चाहे उचित हों या अनुचित, अज्ञान के धरातल पर ही होते हैं। हमें शुद्ध ज्ञान के धरातल तक ऊपर जाना होगा। यह साक्षात्कार ही शुद्ध ज्ञान है कि हम श्रीभगवान् के नित्य सेवक हैं और उनकी अप्राकृत लीलाओं के आनंद-भोक्ता हैं। भगवान् उन लीलाओं का आनंद, स्वामी-रूप में और हम सेवक-रूप में प्राप्त करने वाले हैं।

यह दिव्य इंद्रियातीत ज्ञान केवल अप्राकृत प्रेमा भक्ति द्वारा ही प्राप्त हो सकता है, जैसा कि भगवद्गीता में कहा गया है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

"उन निरंतर भक्ति में परायण, प्रेमसहित मुझे भजने वाले भक्तों को मैं वह बुद्धियोग देता हूँ, जिससे वे मुझे प्राप्त कर लेते हैं।" (गीता १०.१०)

केवल तर्क–वितर्क युक्त बड़ी ज्ञानराशि से नहीं अपितु उपर्युक्त प्रकार की प्रेममयी भक्ति से ही हम भगवान् को यथारूप में जान सकते हैं। जब हम श्रीभगवान् को यथार्थ रूप में जान जाएँगे, तभी उनकी लीलाओं में प्रवेश पा सकेंगे। यही सब अपौरुषेय शास्त्रों का निर्णय है।



अध्याय—३

शांतिमय समाज की ओर

श्री भगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥

"श्रीभगवान् ने कहा : हे कुंतीपुत्र (अर्जुन), यह शरीर क्षेत्र कहलाता है, और जो इस शरीर को जानता है, उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं।" (गीता १३.२)

पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण, अर्जुन को "क्षेत्र" और "क्षेत्रज्ञ" विषयक ज्ञान प्रदान कर रहे हैं। क्षेत्र शरीर है और "क्षेत्रज्ञ" उस शरीर की ज्ञाता जीवात्मा है। यदि क्षेत्र (खेत) में कुछ उपज करनी है तो उसके लिए कोई कृषक होना चाहिए और यदि इस शरीर को सार्थक रूप में लगाना है तो इसका कोई स्वामी अवश्य होना चाहिए जो इसका संस्कार अथवा विकास कर सके। हमारे पास ये भौतिक शरीर हैं और हमारा कर्तव्य है कि हम इनका विकास और संस्कार उचित ढंग से करें। इस संस्कार या विकास को "अकर्म" कहते हैं। कोई व्यक्ति हमारे यहाँ कुदाल लेकर खेत को निराने या स्वच्छ करने आ सकता है अथवा यह व्यक्ति केवल कॉफी या चाय पीने भी आ सकता है। हमें यह विशेष प्रकार का शरीर सुसंस्कृत और विकसित करने तथा अपने इच्छानुसार इंद्रियों के विषयों को प्राप्त करने के लिए दिया गया है। यह शरीर श्रीभगवान् की भेंट है। भगवान् बड़े दयालु हैं और यदि कोई व्यक्ति उनसे कुछ चाहता है तो वे उसे दे देते हैं। वे कहते हैं "अच्छा ठीक है, यह ले लो।" भगवान् से हमारा संबंध ठीक वैसा ही है जैसा पिता से पुत्र का। पुत्र कोई वस्तु प्राप्त करने के लिए अपने पिता से

हठ करता है और पिता उसे समझाने का प्रयत्न करते हैं कि तुम जो वस्तु चाहते हो वह तुम्हारे लिए हितकर नहीं है। पिता उससे कहते हैं, प्रिय पुत्र, उस वस्तु को स्पर्श न करो, वह तुम्हारे लिए हितकर नहीं। किंतु जब बालक उस वस्तु के लिए हठ पकड़ लेता है, तो पिता उसे लेने की अनुमति दे देते हैं। वात्सल्यमय पिता अपने पुत्र को वह सब देते हैं जो वह चाहता है। इसी प्रकार परम पिता भगवान् अपने पुत्र-पुत्रियों को वह सब देते हैं, जो वे लोग चाहते हैं। भगवद्गीता में कहा गया है कि प्रत्येक जाति में जो जीव हैं वे सब भगवान् की संतान हैं–

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥

"हे कुंतीपुत्र (अर्जुन), सभी योनियों का जन्म इस बहिरंग (भौतिक) प्रकृति से होता है, अर्थात् प्रकृति माता है और मैं बीज का गर्भाधान कराने वाला सबका पिता हूं।" (गीता १४.४)

इस भौतिक जगत् में प्रकृति माता हमें शरीर प्रदान करती है और परम पिता भगवान् उस जड़ शरीर में आत्मा का गर्भाधान करते हैं। आज-कल एक मिथ्या सिद्धांत चल रहा है कि केवल मानव में ही आत्मा होती है और दूसरे प्राणियों में नहीं होती किंतु हमें वैदिक शास्त्रों से ज्ञात होता है कि वृक्षों आदि को सम्मिलित करके ८० लाख से भी अधिक शरीर की योनियाँ हैं और उन सब में आत्मा है, अन्यथा वे न उत्पन्न हो सकतीं, न विकसित हो पातीं। इस श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण घोषित करते हैं कि संसार में उत्पन्न होने वाले सभी प्राणी, चाहे उनका रूप कुछ भी हो, उनकी संतान हैं और उनका उनसे वही संबंध है जो एक पुत्र का पिता से होता है। इस श्रीकृष्णभावनामृत का विशेष उद्देश्य आत्मा की स्थिति और श्रीभगवान् से उसका संबंध समझना है।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥

"हे भरतवंशी अर्जुन, मैं भी सब देहों (क्षेत्रों) को जानने वाला (क्षेत्रज्ञ) हूँ। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का जो इस प्रकार जानना है वही ज्ञान है – ऐसा मेरा मत है।" (गीता १३.३)

यदि हम इस शरीर पर विचार कर अध्ययन करें कि हम वास्तव में यह शरीर हैं कि नहीं, तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि हम क्षेत्रज्ञ, शरीर को जानने वाली आत्मा हैं, शरीर नहीं। यदि हम अपनी अँगुली पर ध्यान दें कि हम अँगुली हैं कि नहीं, तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि हम अँगुली या शरीर का और कोई अंग नहीं हैं वरन् अँगुली, भुजाएँ, पैर, सिर आदि 'हमारी' अँगुलियाँ, 'हमारी' भुजाएँ, 'हमारे' पैर आदि हैं। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हम ये शरीर नहीं हैं वरन् ये शरीर हमारे हैं। इसीलिए तो हम कहते हैं कि यह हमारा शरीर है। इस आधुनिक सभ्यता में दुर्भाग्य से लोग कभी यह प्रश्न पूछने का अवकाश नहीं निकालते कि हम क्या हैं या कौन हैं। वे केवल किसी कार्यालय या कर्मशाला (फैक्ट्री) में दिन भर इसी धारणा से कठिन कार्य या घोर परिश्रम करते रहते हैं, "मैं यह शरीर हूँ।" और यदि हम लोगों से पूछें, "आप कौन हैं?" तो वे उत्तर देते हैं, "मैं हिंदू हूँ, मैं मुसलमान हूँ, मैं ईसाई हूँ, मैं स्वीडिश हूँ, मैं अमेरिकन हूँ।" आदि आदि। किंतु ये तो शरीर के भिन्न-भिन्न परिचय (पहचान) या उपाधियाँ हैं। वास्तविक बात यह है कि हम ये शरीर नहीं हैं। यह शरीर केवल हमारा कर्म क्षेत्र है। जिस प्रकार एक कृषक खेत नहीं है, उसी प्रकार हम ये शरीर नहीं हैं। अर्थात् यदि किसान ही खेत है तो हम भी शरीर हैं अन्यथा नहीं।

शरीर अनेक प्रकार के हैं और उन शरीरों के अनुसार उनके क्रियाकलाप भी अनेक प्रकार के हैं। एक कुत्ता किसी प्रकार के कार्य से, एक बिल्ली किसी दूसरे प्रकार के कार्य से और एक मानव प्राणी किसी और ही प्रकार के कार्य से आनंदित होता है। शरीर के अंतर के कारण कार्यों में भी अंतर होता है। जब हम सौभाग्य से सत्य के धरातल पर आते हैं, और समझते हैं कि हम ये शरीर हैं ही नहीं, तब हमारे कार्यकलाप भौतिकता

से आध्यात्मिकता में परिणत हो जाते हैं। जब तक हम देहात्म–बुद्धि से कार्य करते हैं, तब तक हमारे कार्य भौतिक होते हैं। किंतु ज्यों ही हम समझने लगते हैं कि मैं शरीर नहीं हूँ, अहं ब्रह्मास्मि – "मैं ब्रह्म हूँ," तब हमारे कार्य उसी साक्षात्कार से प्रेरित होंगे। अर्थात् वे दैहिक या भौतिक स्तर से प्रेरित नहीं हुआ करेंगे। शरीर से पृथक् अपने पारमार्थिक स्वरूप का ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है किंतु जब तक हम शरीर के परिचय पर ही चिपके रहते हैं, तब तक यह सच्चा ज्ञान नहीं हो सकता।

शास्त्रों में कहा गया है कि जब तक हम लोग जीवन के देहात्म-बुद्धि (शरीरवादी) दृष्टिकोण को अपनाए हुए हैं, तब तक हमारे सारे कर्म निष्फल रहेंगे। एक बालक का जन्म अज्ञानावस्था में होता है और यदि बडा होने पर भी वह जीवन की देहात्म–बुद्धि परिकल्पना में रहता है, तो वह अंधकार में ही रहता है। उसकी स्थिति एक शूद्र जैसी है। वैदिक साहित्य में हम पाते हैं कि जन्म से सब लोग शूद्र ही होते हैं, इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को अपने सच्चे स्वरूप को प्राप्त करने के लिए शिक्षा–दीक्षा की आवश्यकता है। यदि हम अपने माता पिता से प्राप्त जन्म से ही संतुष्ट रह जाएं तो हम अपनी दशा में शूद्र ही रहेंगे। ब्राह्मणत्व के स्तर तक उठने के लिए हमें शुद्धिकरण की प्रक्रिया का अवलंबन करना होगा। जैसा पहले कहा जा चुका है, अपवित्र जीवन के चार मूल लक्षण हैं– अवैध कामोपभोग, मद्य पदार्थों का सेवन, मांस-भक्षण और द्यूत–क्रीड़ा (जुआ खेलना)। वैदिक सिद्धांत के अनुसार विवाह की सीमा के बाहर काम–भोग नहीं करना चाहिए। इसलिए मानव समाज में विवाह की प्रथा है, जो हमें कुत्ते–बिल्लियों से पृथक् करती है। हम चाहे हिंदू, मुस्लिम या ईसाई, कोई भी हों, विवाह प्रथा को स्वीकार करते हैं। इस प्रथा का उद्देश्य है अवैध काम संबंधों का निषेध। वैदिक पद्धति में मद्य सेवन को भी हतोत्साहित किया गया है। मांस-भक्षण का भी समर्थन नहीं किया गया क्योंकि मानव प्राणियों को अहिंसक होना चाहिए। हमें प्रकृति ने पर्याप्त अन्न, फल, दूध और शाक सब्जी दिए हैं, इसलिए बेचारे पशुओं को मारने की कोई आवश्यकता नहीं

है। कुछ लोग तर्क देने लगते हैं कि यदि हम मांस न खाएँगे तो हम अल्प-पोषित रह जाएँगे किंतु हम देख सकते हैं कि इस श्रीकृष्णभावनामृत संघ के शिष्यों ने मांस-भक्षण छोड़ दिया है तो भी वे बड़े स्वस्थ हैं, जबकि जो लोग मांस खा रहे हैं, वे मांस खाने पर भी अनेक व्याधियों और अस्वस्थताओं के घर बन जाते हैं। जुए का भी निषेध किया गया है क्योंकि यह मन को केवल उद्विग्न करता है।

इस प्रकार यह एक शुद्धिकरण की प्रक्रिया है, जिससे कोई भी व्यक्ति ब्राह्मण बन सकता है। यह मार्ग प्रत्येक के लिए खुला है। ब्राह्मण वह है जो सत्यवादी, शुद्ध, सहनशील, सरल, ज्ञानवान् और भगवान् में विश्वास रखता है। वह अपने मन और इंद्रियों पर भी संयम रख सकता है। आज की परिस्थिति में ब्राह्मणों की बहुत आवश्यकता है क्योंकि आजकल प्रायः प्रत्येक व्यक्ति शूद्र है। प्रायः प्रत्येक व्यक्ति पूर्णतया आहार, निद्रा, भय और मैथुन में संलग्न है, जो पशुओं और शूद्रों के लक्षण हैं। समाज में तब तक शांति नहीं रह सकती जब तक एक दूसरे से सामंजस्य (तालमेल) रखते हुए मानव समाज के चार विभाग न हों। ये चार विभाग हैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इन विभागों की चर्चा श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता में इस प्रकार की है –

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥

"प्रकृति के तीन गुणों और नियत कर्म के अनुसार चारों वर्ण मेरे द्वारा रचे गए हैं; यद्यपि इस व्यवस्था का कर्ता होने पर भी मुझ अविनाशी को तुम अकर्ता ही जानो।" (गीता ४.१३)

मानव समाज में मनुष्यों के ये चार वर्ग स्वाभाविक हैं, कृत्रिम नहीं क्योंकि इस भौतिक जगत् में प्रत्येक वस्तु प्रकृति के तीन गुणों–सतोगुण (सद्वृत्ति), रजोगुण (आसक्ति) और तमोगुण (अज्ञान) के अधीन कार्य कर रही है। जब तक हम इस भौतिक जगत् में हैं, तब तक प्रत्येक व्यक्ति

को एक ही श्रेणी में नहीं रखा जा सकता क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति प्रकृति के तीन गुणों के अधीन कार्य कर रहा है। किंतु जब तक हम इस त्रिगुणात्मिका प्रकृति के परे हो जाते हैं, तब वहाँ समता हो जाती है। उस समय ये सारे वर्ग और भेद नष्ट हो जाते हैं। अतः अब प्रश्न उठता है कि इस त्रिगुणमयी प्रकृति के पार कैसे पहुँचा जाए। इसका उत्तर है, श्रीकृष्ण-भावनामृत से भावित होना ही भौतिक प्रकृति से परे जाना है। जैसे ही हम श्रीकृष्णभावनामृत में स्थित होते हैं, हम प्रकृति के तीनों गुणों से अतीत (परे) हो जाते हैं।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

"जो पूर्णरूप से मेरी अव्यभिचारिणी (अनन्य) भक्ति के द्वारा मेरी सेवा करता है, किसी स्थिति में उससे पतित नहीं होता, वह अविलंब प्रकृति के गुणों का लंघन करके ब्रह्मभूत स्तर प्राप्त करता है।" (गीता १४.२६)

इस प्रकार जो व्यक्ति कृष्ण-भक्ति के कार्यों में प्रवृत्त होता है, वह तत्काल ही अप्राकृत स्थिति को पहुँच जाता है। मूलतः हम भौतिक पदार्थ नहीं अपितु ब्रह्म हैं (अहं ब्रह्मास्मि)। श्रीशंकराचार्य का दार्शनिक सिद्धांत मुख्यतया इस बात पर आधारित है कि हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि हम इस भौतिक प्रकृति से निर्मित पदार्थ हैं। यह एक दुर्भाग्यपूर्ण दुर्घटना है कि हम भौतिक प्रकृति के संपर्क में आ गए हैं। वास्तव में हम स्वरूपतः आत्मा, ब्रह्म हैं। हमें उसी मूल-स्वरूप का अनुसंधान करना है। यह भौतिक जीवन एक व्याधि-ग्रस्त स्थिति होती है। जब हम शतप्रतिशत श्रीकृष्ण-भावनामृत से भावित हो जाते हैं, तब वह स्वस्थ "ब्राह्मी स्थिति" हमें तुरंत प्राप्त हो जाती है। अब प्रश्न उठ सकता है कि जब हम श्रीकृष्ण की सेवा करते हुए प्रकृति के तीनों गुणों से परे हो जाते हैं? तब हमारी स्थिति क्या होती है? क्या हम शून्य हो जाते हैं? कुछ दार्शनिकों का मत है कि इस भौतिक जीवन से मुक्ति के उपरांत इस भौतिक शरीर के निर्वाण के अनंतर हम शून्य हो जाते हैं। यह एक भयंकर सिद्धांत है। स्वभावतः

एक प्राणी शून्य की ओर आकर्षित नहीं होता । हम कितने भी रुग्ण हों, और कितने भी कारणों से कष्ट पा रहे हों किंतु यदि हमारा डॉक्टर आकर हमसे कहे, "लाइए मैं आपकी सारी व्याधियों को, आपके प्राण लेकर, समाप्त कर दूँ"। तो हम तुरंत कहेंगे, "नहीं नहीं, मुझे मारने के बजाय, मुझे रोग से कष्ट पाने दीजिए ।" हम अपने दुखों का अंत करने के लिए भी मारे जाना पसंद नहीं करते । इस प्रकार यह सिद्धांत कि मृत्यु के पश्चात् शून्य ही रह जाता है, तनिक भी आकर्षक नहीं है । न यह तथ्य ही है । हम तो सच्चिदानंद विग्रह अर्थात् सनातन, आनंदमय और ज्ञानमय हैं । हम उन भगवान् के अंश हैं । श्रीभगवान् सच्चिदानंद विग्रह हैं और हम लोग गुण की दृष्टि से उनसे अभिन्न हैं । चाहे कितनी भी छोटी हो, समुद्र के जल की बूंद भी उतनी ही खारी होती है, जितना कि पूरा समुद्र। इसी प्रकार हम केवल सूक्ष्म अणु, आत्मा हैं किंतु हम में भी वे सभी गुण विद्यमान हैं जो अंशी भगवान् में हैं । हमारे शून्य होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि एक जीवात्मा के रूप में हमारे आत्मिक गुण–धर्म, अपनी अनंत विविधता में वही हैं जो भगवान् के हैं । किंतु यदि इस भौतिक जीवन में निराशा के कारण हम आत्महत्या कर लें तो उससे हमारे दुखों का अंत नहीं होगा । अपितु हम और दूसरे दुखों को उत्पन्न करेंगे । यदि कोई व्यक्ति आत्महत्या का प्रयत्न करता है किंतु उसमें सफल नहीं होता, या किसी प्रकार बच जाता है, तो वह राज्य के विधान के अनुसार दंड का भागी होता है । उसी प्रकार प्रकृति के नियम आत्महत्या को एक कुकर्म मानते हैं । हमारे भौतिक जीवन का अंत केवल एक अनंत, सच्चे आनंदमय जीवन को प्राप्त करने के उपरांत ही होना चाहिए । हमें केवल निराशा के कारण इस जीवन के दुखों का अंत करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए अपितु हमें ऐसे कार्यों में संलग्न होना चाहिए जो हमें आध्यात्मिक जीवन की उच्चता प्रदान करें ।

भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा मानव समाज में चार वर्णों की व्यवस्था इस उच्चता को सरलता से प्राप्त करने के लिए की गई थी । जिस प्रकार एक

विद्यार्थी निम्न श्रेणी से उच्च स्नातकोत्तर श्रेणी में पहुँचता है, उसी प्रकार चातुर्वर्ण्य का कर्म-विभाजन हमें चेतना के निम्नतम स्तर से उठाकर श्रीकृष्ण चेतना के उच्चतम स्तर तक ले जाने के लिए किया गया है। यह प्रक्रिया एक सहयोग की प्रक्रिया है। इस मानव शरीर में सबसे महत्वपूर्ण अंग सिर है, फिर क्रमशः भुजाएँ, उदर (पेट) और पैर हैं। यद्यपि सिर सबसे महत्व-पूर्ण अंग समझा जाता है किंतु पैरों या किसी अन्य अंग की अवहेलना या उपेक्षा का प्रश्न नहीं उठता। इसी प्रकार मानव समाज के वर्ग-विभाजन में कोई एक वर्ग दूसरे वर्गों की उपेक्षा करके महत्वपूर्ण नहीं माना जाता। वर्गों में ब्राह्मणों को बुद्धिजीवीवर्ग-शिक्षकवर्ग माना जाता है। क्षत्रिय लोग शासक और सैनिक वर्ग हैं। वैश्य लोग व्यापार-व्यवसायी और कृषक वर्ग हैं। शूद्र-लोग सामान्य श्रमिक वर्ग हैं। प्रत्येक सुव्यवस्थित समाज में इन सभी वर्गों की आवश्यकता है। यदि वे श्रीकृष्णभावनामृत की प्रगति में परस्पर सह-योग करें तो उनमें संघर्ष न हो।

वर्तमान सामाजिक स्थिति में भी हम देखते हैं कि हम इन्हीं चार वर्गों में विद्यमान हैं किंतु हम में सहयोग नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति असंतुष्ट है। आज पूंजीपतिवर्ग और मजदूरवर्ग में बड़ा भारी संघर्ष है क्योंकि उनमें कोई सहयोग, पूर्ण समझौता नहीं है, केवल टकराव है। विभिन्न वर्गों में यह सारा संघर्ष श्रीकृष्णभावनामृत के अभाव के कारण है। वस्तुतः जब तक श्रीकृष्णभावनामृत नहीं प्राप्त होती तब तक सहयोग की क्षीण संभावना भी नहीं है। मानव समाज के समस्त अंगों में सामंजस्य (तालमेल) के लिए श्रीकृष्णभावनामृत नितांत अनिवार्य है। हम चाहे किसी भी वर्ग के हों, यदि श्रीकृष्णभावनामृत से युक्त होकर हम सहयोग करें तो विश्व में शांति स्थापित हो जाएगी।

इस प्रकार श्रीकृष्णभावनामृत समाज के सभी वर्गों की एक अनिवार्य आवश्यकता है। श्रीमद्भगवद्गीता का प्रत्येक अध्याय और उसका निष्कर्ष श्रीकृष्णभावनामृत की ओर लक्ष्य का संकेत है। श्रीकृष्ण जो गीता के वक्ता हैं, सदैव अपनी भक्ति पर बल देते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥

"हे अर्जुन, तुम सदा मेरा चिंतन करो, मेरे भक्त बनो, मेरा पूजन करो और मुझे ही नमस्कार करो। इस प्रकार तुम मेरे पास निःसंदेह आओगे। यह मैं तुमसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ क्योंकि तुम मेरे अतिशय प्रिय सखा हो।" (गीता १८.६५)

संपूर्ण भगवद्गीता में "माम्" शब्द पर बल दिया गया है। "माम्" अर्थात् "मुझे", "कृष्ण को"। किंतु कुछ धूर्त जन इस "माम्" का अर्थ "प्रत्येक व्यक्ति को" करते हैं। जब मैं कहता हूँ, " मेरे लिए एक गिलास पानी लाइए, तो क्या इसका अर्थ यह होता है कि मैं आपसे प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक गिलास पानी लाने के लिए कहता हूँ।"यहाँ व्यक्ति विशेष तो है किंतु ये लोग शब्दों के जादू से "मुझे" या "मैं" का तात्पर्य "प्रत्येक व्यक्ति" करते हैं। इसी प्रकार जब श्रीकृष्ण "मैं" कहते हैं तो धूर्त जन उस "मैं" को अपने अर्थ में ग्रहण कर लेते हैं। यह बड़ा भारी अनर्थ है। यद्यपि भगवद्गीता विश्व में बहुत लोकप्रिय है किंतु सांसारिक विद्वानों की अनर्थमयी व्याख्या के कारण इसका तात्पर्य ठीक नहीं समझा जा सका है।

भगवद्गीता में स्पष्ट कहा गया है कि चातुर्वर्ण्य की स्थापना भगवान् श्रीकृष्ण ने की है किंतु वे इस व्यवस्था से परे हैं। जब श्रीकृष्ण एक अवतार के रूप में आते हैं तब वे किसी सामाजिक व्यवस्था के सदस्य के रूप में नहीं आते। न वे ब्राह्मण या और किसी वर्ण के रूप में आते हैं। जब श्रीकृष्ण अवतरित हुए तब वे देवकी और वसुदेव के पुत्र के रूप में आए थे। वसुदेवजी एक राजपरिवार के सदस्य थे, अत. वे क्षत्रिय थे। इस प्रकार, श्रीकृष्ण ने एक क्षत्रिय का कर्म किया किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि श्रीकृष्ण क्षत्रिय जाति के थे। अनेक युगों में श्रीकृष्ण के अनेक अवतार हुए हैं। एक अवतार में वे एक मत्स्य (मच्छ) हुए, जो मत्स्य जाति का एक सदस्य है किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि श्रीकृष्ण मत्स्य हैं। यदि एक मच्छ को देख कर हम समझ लेगें कि यह श्रीकृष्ण के परिवार का सदस्य है, तो यह भूल होगी।

एक दूसरे दृष्टिकोण से निश्चय ही प्रत्येक वस्तु श्रीकृष्ण हैं किंतु श्रीकृष्ण प्रत्येक वस्तु से पृथक् हैं। यही श्रीकृष्ण का अलौकिक अप्राकृत स्वरूप है। और यदि हम इस बात को समझ लें, तो हम जन्म-मृत्यु से मुक्त हो जाएँ। यद्यपि श्रीकृष्ण ने मानव समाज के चार विभाग स्थापित किए हैं तथापि वे उनमें से किसी में भी नहीं हैं। (**तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्**)। ज्यों ही हम समझ जाते हैं कि यद्यपि श्रीकृष्ण एक क्षत्रिय परिवार में उत्पन्न हुए थे किंतु वे एक क्षत्रिय नहीं हैं, हम मुक्त हो जाते हैं। यदि हम सोचें कि श्रीकृष्ण एक विशेष ढंग से कार्य करते हैं, – जैसे युद्ध क्षेत्र में उन्होंने अर्जुन को युद्ध करने का उपदेश दिया–वे अपने कर्मों की प्रतिक्रियाओं (फलों) से बँधे हैं तो हम भूल करते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं "**न मां कर्माणि लिम्पन्ति**" अर्थात् "मुझे कर्म लिप्त नहीं कर सकते।" निष्कर्षतः हमें यह तथ्य स्वीकार करना चाहिए कि जब श्रीकृष्ण हममें से एक जैसे प्रकट होते हैं तब वास्तव में वे "**हममें से एक**" नहीं होते। वे अत्युत्कृष्ट और अप्राकृत हैं। इस तथ्य का ज्ञान हमें विनम्र जिज्ञासा से प्रमाणभूत स्रोतों जैसे भगवद्गीता या गुरु से प्राप्त हो सकता है, जिसे कृष्ण–भक्ति का पूर्ण साक्षात्कार हो चुका है।

आज के युग में मानव समाज का प्रत्येक वर्ग सोचता है कि उसका निजी हित केवल इस शरीर का भरण–पोषण करने में है। फलतः आज का समाज केवल, बिल्ली–कुत्तों और सुअरों का समाज होकर रह गया है। वैदिक साहित्य से हम जान सकते हैं कि हमें केवल इस शरीर के लिए दिन भर कठोर परिश्रम करने की आवश्यकता नहीं है। हम बड़ा भारी परिश्रम कर रहे हैं क्योंकि हम इन इंद्रियों की तृप्ति के लिए इस भौतिक प्रकृति को वश में करने के लिए प्रयत्नशील हैं। जो यह समझ सकता है कि श्रीकृष्ण प्रत्येक पदार्थ का मूल हैं, प्रत्येक वस्तु के स्रोत हैं, वह "**ईश्वरः परमः कृष्णः**" अर्थात् "श्रीकृष्ण परम-ईश्वर (सर्वोपरि नियंता) हैं" इस वाक्य का अर्थ समझ सकता है। इस ब्रह्मांड में अनेक ईश्वर या नियंता हैं किंतु श्रीकृष्ण उन सबमें परम (सर्वोत्कृष्ट) उत्कृष्ट हैं। श्रीकृष्णभावनामृत हमें यह ज्ञान

प्रदान करती है। इस ज्ञान के बिना हम अपने स्वार्थ (सच्चे हित) के संबंध में अनभिज्ञ ही रहेंगे।

आधुनिक समाज को बुद्धिजीवियों या ब्राह्मणों की अतिशय आवश्यकता है, जो सच्चे आध्यात्मिक ज्ञान को सारे विश्व में प्रसारित कर सकें। ऐसे समाज की यह अनिवार्य आवश्यकता है, जो केवल प्रकृति का शोषण (दोहन) करने के लिए घोर परिश्रम कर रहा है। यदि लोग इस श्रीकृष्णभावनामृत अभियान को वैज्ञानिक और दार्शनिक दृष्टि से अपने श्रेष्ठ ज्ञान और विवेक से समझने का प्रयत्न करें और सहयोग करें तो सारे विश्व में शांति स्थापित हो जाए। मूलतः यह प्रक्रिया बहुत सरल है। हमें केवल

हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे॥

इस मंत्र का संकीर्तन करते हुए पूर्वोक्त चार नियामक सिद्धांतों का पालन करना है : उन नियमों के पालन के द्वारा हम पाप पूर्ण जीवन के चार स्तंभों को हटा देंगे और हरे कृष्ण–मंत्र के संकीर्तन के द्वारा हम श्रीभगवान् के निरंतर संपर्क में रहेंगे। इस प्रकार मानव समाज के सभी वर्गों में शांति स्थापित हो जाएगी।





अध्याय – ४

श्रीकृष्ण का यथारूप ज्ञान

श्रीभगवान् की स्तुति करने के लिए हमें किसी उच्च शिक्षा योग्यता की आवश्यकता नहीं है। हमारी सामाजिक अथवा बौद्धिक स्थिति कुछ भी हो, हम प्रार्थना कर सकते हैं। हमें बड़ा विद्वान् या पंडित होने की आवश्यकता नहीं है। यह भी आवश्यक नहीं है कि हम अपनी प्रार्थना को श्रेष्ठ चुने हुए शब्दों में व्यक्त करें जो कवित्वपूर्ण अथवा अलंकारपूर्ण हों। इनमें से किसी बात की आवश्यकता नहीं है किंतु ये विशेषताएँ भी हों तो बहुत सुंदर है। हमें केवल अपने भावों को व्यक्त करना है किंतु ऐसा करने के लिए हमें अपनी स्थिति का ज्ञान होना आवश्यक है। अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर हमारी अनुभूतियाँ सच्चे रूप में स्वतः अभिव्यक्त होने लगेंगी।

हमारी स्थिति क्या है? श्रीचैतन्य महाप्रभु ने अपने शिक्षाष्टक में इसकी शिक्षा दी है। उन्होंने सिखाया है कि प्रार्थना कैसे करनी चाहिए –

> न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये।
> मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि ॥

"हे जगत् के स्वामी, सर्वशक्तिमान् प्रभो, न मैं धन, न जन (अनुयायी) न सुंदर स्त्री, न कवित्व शक्ति की कामना करता हूँ। मैं तो केवल यह चाहता हूँ कि जन्म–जन्म में आप में मेरी अहैतुकी भक्ति हो।" (शिक्षाष्टक – ४)

इस प्रार्थना में "जगदीश" शब्द आया है, जिसका अर्थ है "समस्त जगत् के स्वामी।" हम हिंदू, मुसलमान, ईसाई या कोई भी क्यों न हों, हमें यह मानना चाहिए कि इस विश्व का कोई सर्वोच्च नियंता है। जो भी

व्यक्ति भगवान् में विश्वास रखता है, इस तथ्य को अस्वीकार नहीं कर सकता। हमारा अटल विश्वास यह होना चाहिए कि हमारे सर्वोच्च पिता अखिल जगत् के स्वामी हैं। केवल "जगदीश" ही "नियंता" हैं, शेष सब "नियंत्रित" हैं। पर अनीश्वरवादी यह शब्द पसंद नहीं करता क्योंकि वह यह मानना पसंद करता है कि वही नियंता हैं किंतु वस्तुतः यह बात ठीक नहीं है। इस भौतिक जगत् में सभी पदार्थ प्रकृति के तीन गुणों–सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण के अधीन हैं। केवल श्रीभगवान् ही इन तीनों गुणों से परे हैं –

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥

"प्रकृति के तीनों गुणों–सत्व, रज और तम द्वारा विमोहित यह सारा जगत् इन गुणों से परे मुझ अविनाशी को नहीं जानता है।" (गीता ७.१३)

ब्रह्मसंहिता में भी परम–ईश्वर भगवान् के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। उसमें ब्रह्माजी ने कहा है– "ईश्वरः परमः कृष्णः" अर्थात् स्वयं श्रीकृष्ण ही सर्वोच्च नियंता हैं। "ईश्वर" का अर्थ है "नियंता" और "परमः" का अर्थ है "सर्वोच्च"।

हम सभी किसी सीमा तक नियंता हैं। यदि हमारे पास कभी नियंत्रित करने के लिए कुछ नहीं होता तो हम कोई कुत्ता या बिल्ली ही रख लेते हैं, जिससे हम कह सकते हैं, "प्यारे कुत्ते, यहाँ आओ।" इस प्रकार हम सोच सकते हैं, "हम नियंता हैं।" कभी स्थिति एकदम बदल जाती है और हम पाते हैं कि कुत्ता ही स्वामी का नियंत्रण कर रहा है। ऐसा इसलिए होता है कि वस्तुतः कोई भी नियंता नहीं हैं, सब नियंत्रित हैं। दुर्भाग्य से हम इस स्थिति को भूले हुए हैं, यह विस्मृति ही "माया" कहलाती है। हम इस विश्व का कोई नियंता इसलिए नहीं मानते कि यदि हमने वैसा मान लिया तो हमें उसे अपने पाप कर्मों का उसी प्रकार हिसाब देना होगा जैसे किसी शासन व्यवस्था को मान लेने पर हमें अपने अवैध कार्यों का

हिसाब उसे देना पड़ता है। हमारी स्थिति यह है कि हम अपने पाप पूर्ण कर्मों को जारी रखना चाहते हैं, इसीलिए हम किसी नियंता का अस्तित्व नहीं मानते। अनीश्वरवादिता का यह मौलिक सिद्धांत है। वर्तमान प्रचार कि "ईश्वर मृत है," इतना व्यापक इसलिए हो गया है कि हम लोग बिना रोक टोक धूर्त और खल बने रहना चाहते हैं। ईश्वर के अस्तित्व को कितना भी अस्वीकार करें उनकी मृत्यु नहीं होगी। इस संबंध में एक बंगाली कहावत है—"शकुनि शापे गोरु मरण" शकुनि का अर्थ है— गृध्र (गिद्ध)। गिद्धों को मृत पशुओं के, विशेषकर गाय के मृत शरीर को खाना पसंद है। कभी-कभी गिद्धों को कई दिन तक कोई मरा हुआ पशु नहीं मिलता; इसलिए यह कहावत बनी कि गिद्ध गाय को मरने का शाप देता है। किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि गिद्ध के शाप से गाय मर ही जाएगी और गिद्ध का हित हो जाएगा। ठीक इसी प्रकार ये अनीश्वरवादी गिद्ध ईश्वर को मरा हुआ देखना चाहते हैं, जिससे वे यह सोचकर प्रसन्न हो लें, "अब ईश्वर तो मर चुका, हम जो चाहें कर सकते हैं।"

हमें निश्चयपूर्वक यह जान लेना चाहिए कि इस विश्व का कोई एक नियंता है; यह ज्ञान का श्रीगणेश है। हम इस सत्य को अस्वीकार क्यों करें? प्रत्येक कर्म क्षेत्र में हम कोई सीमित शक्ति वाला नियंता पाते हैं, तो इस सृष्टि में हम एक असीम शक्ति वाले नियंता के अस्तित्व को कैसे अस्वीकार कर सकते हैं? इसलिए श्रीचैतन्य महाप्रभु ने 'जगदीश' (जगत् के नियंता) शब्द विशेष रूप से सकारण प्रयुक्त किया है। उन्होंने यह 'जगदीश' शब्द वैसे ही कल्पित नहीं कर लिया है, यह अनेक वैदिक मंत्रों और ग्रंथों में पहले से विद्यमान है। जैसे—

तव करकमलवरे नखमद्‌भुतशृंगं
दलित हिरण्यकशिपुतनुभृङ्गम्।
केशव! धृतनरहरिरूप! जय जगदीश हरे॥

"हे जगन्नियंता केशव, हे हरि, आपकी जय हो। आपके सुंदर कर-

कमलों के अद्भुत नखों की चोटी पर असुर हिरण्यकशिपु का विदीर्ण शरीर विद्यमान है।" (महाकवि जयदेव कृत गीतगोविंद) हिरण्यकशिपु एक अनीश्वरवादी था, जिसने ईश्वर के अस्तित्व को नकार दिया था किंतु भगवान् श्रीनृसिंहदेव (आधे पुरुष–आधे सिंह) के रूप में अवतरित हुए और उसका वध कर डाला। इसलिए उक्त श्लोक में समस्त जीवों और विश्व के सर्वोच्च नियंता की स्तुति की गई है। (जय जगदीश हरे!)

इसी प्रकार एक दूसरी प्रार्थना भी है: **जगन्नाथ स्वामी नयनपथगामी भवतु मे** – जगत् के स्वामी (भगवान् जगन्नाथजी) मेरे नेत्रों में दिखाई दें अर्थात् मुझे दर्शन दें।" इन सभी और अनेक दूसरी प्रार्थनाओं में जगत् के सर्वोच्च नियंता को स्वीकार किया गया है। प्रत्येक व्यक्ति सर्वोच्च नियंता बनने का प्रयत्न कर रहा है किंतु यह किसी एक व्यक्ति, संप्रदाय या राष्ट्र के प्रयत्न से संभव नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति सर्वोच्च बनने का प्रयत्न कर रहा है, इसलिए विश्व में बड़ी प्रतिस्पर्धा उत्पन्न हो गई है। किंतु इस विश्व का निर्माण कुछ इस प्रकार हुआ है कि कोई एक व्यक्ति सर्वोच्च नहीं बन सकता। किसी भी प्रकार हम अपने को किसी भी स्थिति में रखें, हम देखेंगे कि या तो कोई व्यक्ति हमसे नीचा है, या कोई ऊँचा है। कोई व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि मैं सर्वोच्च हूँ। मुझसे ऊँचा कोई नहीं है। न कोई यह कह सकता है "मैं सबसे नीचा हूँ, मुझसे नीचा कोई नहीं है।" एक बार जब हम सोचते हैं कि हम सबसे नीचे हैं, हम तुरंत पाते हैं कि कोई हमसे भी नीचा है। और जब हम सोचते हैं कि हम सबसे ऊँचे हैं, हमें तुरंत पता चल जाता है कि हम से भी ऊँचा कोई है। हमारी स्थिति यही है। किंतु श्रीभगवान् की स्थिति ऐसी नहीं है। भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने अपनी सर्वश्रेष्ठता स्वयं इस प्रकार व्यक्त की है –

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

"हे धनंजय (अर्जुन), मुझसे श्रेष्ठ अन्य कोई भी सत्य नहीं है। सूत्र में गूथी हुई मणियों की भाँति यह सब कुछ मेरे आश्रित है।" (गीता ७.७)

श्रीभगवान् 'असमोर्ध्व' हैं जिसका अर्थ है, "न कोई उनके समान है, न कोई उनसे ऊँचा है।" यदि हमें कोई ऐसा व्यक्ति मिले, जिससे ऊँचा कोई न हो तो हम उसे भगवान् के रूप में स्वीकार कर सकते हैं। श्रीभगवान् की परिभाषा यही हो सकती है कि वे जिनके समान या जिनसे बढ़कर कोई न हो। यही वैदिक परिभाषा है। उपनिषदों में कहा गया है, "न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।" अर्थात् "न कोई उनके समान, न उनसे अधिक दिखाई देता है।"

श्रीभगवान् का एक लक्षण यह है कि उन्हें कुछ नहीं करना होता। भौतिक जगत् में जब किसी व्यक्ति को बहुत महत्वपूर्ण माना जाता है तो उसे बहुत से कार्य करने पड़ते हैं। उदाहरण के लिए संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में उसके राष्ट्रपति सर्वोच्च व्यक्ति समझे जाते हैं किंतु ज्यों ही मध्य यूरोप या विश्व के किसी अन्य भाग में कोई उपद्रव होता है तो उन्हें उस स्थिति से निपटने के लिए अपने मंत्रि परिषद की बैठक बुलानी पड़ती है। सो उन्हें अनेक कार्य करने पड़ते हैं। यदि वे कुछ नहीं करते तो वे सर्वोच्च व्यक्ति नहीं रह जाते। वैदिक साहित्य से हमें पता चलता है कि भगवान् को कुछ नहीं करना होता। "न तस्य कार्यं करणं च विद्यते" विश्व में श्रीकृष्ण अनेक कार्य करते हुए दीख पड़ते हैं किंतु इसलिए नहीं कि उन्हें सब करना अनिवार्य है। गीता में कहा गया है —

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥

"हे पार्थ, त्रिभुवन में मेरे लिए कुछ भी कर्तव्य नहीं है; न तो मुझे किसी पदार्थ का अभाव है और न आवश्यकता ही है। फिर भी मैं कर्म में तत्पर रहता हूँ।" (गीता ३.२२)

इस संबंध में एक मनोरंजक घटना है। एक यूरोपीय सज्जन जो कलकत्ता गए थे और जिन्होंने अनेक मंदिरों के दर्शन किए, उन्होंने काली-मंदिर में देखा कि देवी काली की प्रतिमा बड़ी विकराल है, उनके हाथ में

एक कृपाण है, वे राक्षसों के मुंड काट रही हैं और उन मुंडों की माला पहने हुए हैं। दूसरे मंदिरों में भी उन्होंने देवी को ऐसे ही कार्यों में संलग्न देखा किंतु जब वे सज्जन श्रीराधा–कृष्ण के मंदिर में पहुँचे तो बोल उठे, "मुझे लगता है, इस मंदिर में श्रीभगवान् हैं।" जब उनसे पूछा गया कि आपने यह निष्कर्ष कैसे निकाला, तो उन्होंने उत्तर दिया, मैंने प्रत्येक मंदिर में देखा कि श्रीमूर्ति कुछ न कुछ कर रही हैं। किंतु यहाँ मैं देखता हूँ कि श्रीभगवान् केवल वंशी बजा रहे हैं और स्वयं में आनंदमग्न हैं। स्पष्टतया लगता है कि उन्हें करना कुछ नहीं है।" यह बड़ा बुद्धिमत्तापूर्ण निष्कर्ष है। वास्तव में यह वैदिक निष्कर्ष है।

आजकल यह एक प्रथा (फैशन) चल पड़ी है कि लोग ध्यान द्वारा यह कहने लगे हैं कि "हम भगवान् हैं।" इसका अर्थ यह है कि ध्यान द्वारा एक व्यक्ति अपने को भगवान् के रूप में परिवर्तित कर सकता है। दूसरे शब्दों में, भगवान् ध्यान करता है और उसके द्वारा वह भगवान् बन जाता है। यह सब मूर्खतापूर्ण बात है। श्रीभगवान् भगवान् हैं, सदा भगवान् थे और सदा भगवान् रहेंगे। अपनी माँ की गोद में एक शिशु के रूप में भी श्रीकृष्ण भगवान् हैं। उन्हें किसी ध्यान, कठिन साधना या तपश्चर्या की आवश्यकता नहीं पड़ी। जब राक्षसी पूतना श्रीकृष्ण को विष देने के लिए आई, वह एक युवती के सुंदर रूप में थी। उसने माता यशोदा से कहा, "माँ यशोदे, आपका पुत्र बड़ा सुंदर है। क्या आप कृपया उसे मुझे दुलारने के लिए देंगी?" यशोदा एक सीधी सादी सरल स्त्री थीं। उन्होंने कहा, "हाँ, क्यों नहीं, तुम मेरे शिशु को ले सकती हो।" पूतना ने अपने स्तनों पर विष लगा रखा था और वह विषाक्त स्तनपान करा कर श्रीकृष्ण को मार डालना चाहती थी। यही राक्षसी वृत्ति है। राक्षस लोग सदा श्रीकृष्ण को मारना चाहते हैं, जिससे वे कह सकें, "ईश्वर मर गया। ईश्वर नहीं है। ईश्वर निराकार है। श्रीकृष्ण इतने दयालु थे कि उन्होंने पूतना के स्तनपान के लिए स्वयं को उसे सौंप दिया। किंतु जब उन्होंने उसके स्तनों का पान किया, तो केवल विष ही नहीं पिया अपितु उसके प्राण भी पी लिए।

पूतना मृत होकर गिर पड़ी और तुरंत अपने वास्तविक राक्षसी के रूप में आ गई। सो, यह श्रीभगवान् हैं। वे अपनी माँ की गोद में भी भगवान् हैं। उन्हें ध्यान, तपस्या, साधना या विधिविधानों के द्वारा भगवान् नहीं बनना पड़ता। वे तत्वतः, मूलतः और शाश्वत रूप में श्रीभगवान् हैं और उन्हें कुछ नहीं करना है। यदि कोई कहने लगे कि वह अमुक देवता की उपासना या ध्यान से भगवान् बन सकता है, तो हमें तुरंत समझ जाना चाहिए कि वह भगवान् नहीं, श्वान (कुत्ता) है।

श्रीभगवान् को समझने के लिए हमें केवल वैदिक सिद्धांत को ही स्वीकार करने की सावधानी रखनी चाहिए **'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते।'** श्रीभगवान् को कुछ करने के लिए नहीं रहता। फिर भगवान् को भगवान् बनने के लिए क्यों कुछ करना पड़ेगा ? यदि हम सोना बनाएँ तो वह कृत्रिम सोना होगा, वास्तविक स्वर्ण नहीं। स्वर्ण स्वाभाविक होता है, वैसे ही श्रीभगवान् भी स्वयंसिद्ध हैं। अपनी बाल लीलाओं में, अपनी माँ की गोद में भी वे श्रीभगवान् हैं। जब वे अपने सखाओं के साथ खेलते हैं तब भी भगवान् हैं। जब वे नृत्य करते हैं तब भी भगवान् हैं। जब वे अपनी रानियों से विवाह करते हैं तब भी श्रीभगवान् हैं। जब वे बोलते हैं तब भी भगवान् हैं। श्रीभगवान् को समझने में कोई कठिनाई नहीं है। हमसे जो अपेक्षा की जाती है, वह केवल यह है कि हम भगवान् श्रीकृष्ण को सुनें। गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं –

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥

"मैं प्राकृत जगत् और वैकुंठ दोनों का कारण हूँ; मुझ से ही सब कुछ उत्पन्न होता है। इस प्रकार तत्व से समझ कर बुद्धिमान् भक्त जन श्रद्धा और भक्ति के साथ प्रेमपूरित हृदय से निरंतर मेरा भजन करते हैं।" (गीता १०.७)

इसका तात्पर्य है कि भगवान् श्रीकृष्ण, शिवजी के आदि स्रोत, श्रीविष्णु

और ब्रह्माजी के भी आदि कारण हैं। वस्तुतः वे सभी देवताओं और प्राणियों के भी मूल कारण हैं। वे आगे कहते हैं –

> ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
> मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥

"इस बद्ध जगत् में यह जीव मेरा ही सनातन अंश है। बद्ध दशा में होने के कारण यह मन और पाँच इंद्रियों के साथ घोर संघर्ष कर रहा है।" (गीता १५.७)

ब्रह्म संहिता में ब्रह्माजी ने बताया है कि यदि हम श्रीभगवान् को खोज रहे हैं तो वे यहाँ हैं–

> प्रेमांजनच्छुरितभक्तिविलोचनेन।
> सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति ॥
> यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणस्वरूपं।
> गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

"मैं उन आदिपुरुष श्रीगोविंद का भजन करता हूँ, जो श्रीश्यामसुंदर हैं। जिनके गुण और स्वरूप अचित्य हैं और जिनको प्रेम के अंजन से युक्त भक्तिभावपूर्ण नेत्रों से साधु लोग सदा ही अपने हृदय में देखा करते हैं।" (ब्र. सं. ५.३८)

वैदिक साहित्य में सर्वत्र ऐसे ही वर्णन हैं किंतु धूर्त जन और असुर इतने हठी हैं कि यद्यपि बारह प्रमाणभूत आचार्यों (ब्रह्मा, नारद, शिव, भीष्म, सनकादि मुनि, कपिल, मनु आदि) और व्यास, देवल आदि महाभागवतों द्वारा श्रीकृष्ण को परब्रह्म परम–ईश्वर भगवान् माना गया है, तो भी वे लोग श्रीकृष्ण को भगवान् नहीं मानते। श्रीचैतन्य महाप्रभु भी घोषित करते हैं कि श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं और श्रीमद्भागवत महापुराण भी कहता है, "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्", (श्रीकृष्ण तो स्वयं भगवान् हैं।) श्रीमद्भागवत श्रीभगवान् के सभी अवतारों की सूची देता है और अंत में

निष्कर्षतः कहता है कि इस सूची में जो "कृष्ण" का नाम है, वह सर्वोच्च अवतारी (अंशी), परम–ईश्वर भगवान् का नाम है और अन्य सभी नाम केवल उनके अंशों या अवतारों के नाम हैं। 'एते चांशकलाः पुंसः।'

श्रीभगवान् के अन्य सब नाम या तो भगवान् के अंश हैं या अंशों के भी अंश (कलाएँ) हैं। जीवात्माओं के रूप में हम लोग अंश हैं किंतु अत्यंत क्षुद्र अंश हैं। शेष सब या तो अंश हैं या कलाएँ। किंतु श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं–परम–ईश्वर हैं।

हमारी प्रार्थनाएँ केवल भगवान् की ओर उन्मुख होनी चाहिएँ, किसी अन्य की ओर नहीं। इसलिए हम ब्रह्माजी के साथ श्रीकृष्ण की स्तुति में स्वर मिलाते हैं –

चिन्तामणिप्रकरसद्मसु कल्पवृक्ष
लक्षावृतेषु सुरभीरभिपालयन्तम्।
लक्ष्मीसहस्रशतसम्भ्रमसेव्यमानं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

"मैं उन आदिपुरुष श्रीगोविंद का भजन करता हूँ जो चिंतामणि-रत्नों से निर्मित एवं लक्ष-लक्ष कल्पवृक्षों से आवृत अपने धामों में सबकी अभिलाषा पूर्ण करते हुए गौओं का पालन कर रहे हैं। वे सहस्रों-सहस्रों गोपसुंदरियों अर्थात् लक्ष्मीगणों द्वारा अत्यंत संभ्रमतापूर्वक सर्वदा सेवित हो रहे हैं।" (ब्र. सं. ५.२९)

यहाँ श्रीकृष्ण को आदिपुरुष कहा गया है। हम सब "व्यक्ति" हैं। हमारे पिता एक व्यक्ति हैं। यदि हम अतीत से अपने पिता के पिता की खोज करें तो हमे पता लगेगा कि वे भी एक व्यक्ति थे। इसी प्रकार पीछे जाते–जाते हम ब्रह्माजी तक पहुँच जाएँगे, जो इस विश्व में श्रीभगवान् द्वारा उत्पन्न प्रथम व्यक्ति हैं। फिर हमें पता लगेगा कि ब्रह्मा के पिता श्रीविष्णु भी एक पुरुष (व्यक्ति) है। प्रत्येक जीव एक व्यक्ति है, बस, श्रीकृष्ण ही "आदिपुरुष" हैं। निराकारवादियों की ईश्वर संबंधी परि-

कल्पना " निरर्चा " कहलाती है । " निः " का अर्थ है रहित, बिना, नहीं । और ' अर्चा " का अर्थ है रूप, आकार । इस प्रकार " निरर्चा " का अर्थ है रूप, आकार से रहित । निराकारवादियों की यह मान्यता ठीक नहीं है कि श्रीभगवान् का कोई रूप नहीं अपितु यह अर्थ है कि भगवान् का रूप भौतिक नहीं है, जैसा कि हमारा है । भगवान् का रूप तो है परंतु वह भौतिक नहीं है, वह आध्यात्मिक है ।

हमारे रूप का क्या मूल्य है ? यह रूप तो कुछ वर्षों बाद जब हम शरीर छोड़ेंगे, बदल जाएगा । हमारे रूप तो ऐसे ही बदलते चले जाते हैं, जैसे हम अपने वस्त्र बदलते हैं । किंतु श्रीभगवान् का रूप ऐसा नहीं है । इसलिए वे कभी-कभी निरर्चा कहलाते हैं । रूप तो है और उसका निरूपण ब्रह्म-संहिता में किया गया है । ब्रह्माजी ने उस रूप का वर्णन इस प्रकार किया है–

वेणुं क्वणन्तमरविन्ददलायताक्षं
बर्हावतंसमसिताम्बुदसुन्दरांगम् ।
कन्दर्पकोटिकमनीयविशेषशोभं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ।।

अंगानि यस्य सकलेन्द्रियवृत्तिमन्ति
पश्यन्ति पान्ति कलयन्ति चिरं जगन्ति ।
आनन्दचिन्मयसदुज्जवलविग्रहस्य
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ।।

" मैं आदिपुरुष श्रीगोविंद का भजन करता हूं, जो वेणु वादन में सुनिपुण हैं, जिनके नेत्र कमल की कर्णिका के सदृश अत्यंत सुंदर एवं सुकुमार हैं और जिनके शिर पर मोरमुकुट अत्यंत सुशोभित है एवं नील जलधर के समान जिनकी श्याम कांति है तथा जो कोटि-कोटि कामदेवों से भी अधिक मनोहर हैं ।

" मैं आदिपुरुष श्रीगोविंद का भजन करता हूं, जिनका अप्राकृत दिव्य श्रीविग्रह सच्चिदानंदमय है एवं सदुज्जवल नीलमणि के समान देदीप्यमान

है । उनके प्रत्येक दिव्य अंग मे सभी इंद्रियों की पूर्ण कार्यशक्ति विद्यमान है तथा उनके द्वारा भगवान् अप्राकृत एवं अप्राकृत अनंत ब्रह्मांडों का सर्वदा निरीक्षण, पालन एवं प्राकट्य करते हैं।" (ब्र. सं. ५.३०–३२)

श्रीकृष्ण का उपर्युक्त दिव्य रूप हमारे भौतिक रूपों से नितांत भिन्न है । निराकारवादी कहते हैं, "अच्छा, आप कहते हैं, कृष्ण का कोई रूप है । यदि ऐसा है तो आप कैसे कह सकते हैं कि वे सर्वोच्च हैं ? निराकार ब्रह्म का कोई रूप नहीं होता । यदि ऐसा है तो आप कैसे कह सकते हैं कि वे सर्वोच्च हैं । निराकार ब्रह्म ही सर्वोच्च है और निराकार ब्रह्म का कोई रूप नहीं होता ।" किंतु हमें श्रीमद्भगवद्गीता से ज्ञात होता है कि भगवान् श्रीकृष्ण ही निराकार ब्रह्म के आदि स्रोत हैं –

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥

"परम सुखस्वरूप, अमृत, अविनाशी और सनातन निर्विशेष ब्रह्म का मैं ही आश्रय (आधार) हूँ ।" (गीता १४.२७)

श्रीकृष्ण निश्चय ही साकार हैं किंतु उनका रूप, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सच्चिदानंदमय है । वे सत्–शाश्वत, चित्–ज्ञानमय और आनंद-स्वरूप हैं । भगवान् श्रीकृष्ण के दिव्य विग्रह (शरीर) की विशेषताओं को ब्रह्माजी ने इस प्रकार संक्षेप में निरूपित किया है –

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः ।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम् ॥

"श्रीकृष्ण जिन्हें श्रीगोविंद नाम से जाना जाता है, परम–ईश्वर हैं । उनका शरीर सच्चिदानंदमय है । वे ही सबके आदि स्रोत हैं । उनका कोई और स्रोत नहीं है । वे ही सब कारणों के आदि कारण हैं ।" (ब्र. सं. ५.१)

"गोविंद" शब्द का अर्थ है, "वे जो इंद्रियों को सुख देते हैं ।" हम सुख की अनुभूति अपनी इंद्रियों से करते हैं, अतः श्रीकृष्ण, जो सुख के

परम निधान हैं, "गोविंद" कहलाते हैं। यदि हम पवित्र इंद्रियों से श्रीकृष्ण की सेवा करें तो हम उस सर्वोच्च आनंद-निधि का आनंद लेने लगेंगे।

हम श्रीभगवान् का वर्णन कैसे कर सकते हैं उनकी गुणगरिमा को कैसे समझ सकते हैं ? यह संभव नहीं है। भगवान् असीम, अनंत हैं। किंतु अपनी सीमाओं पर ध्यान देते हुए हम अपनी अनुभूतियों को यों व्यक्त कर सकते हैं – "मेरे भगवन्, मेरे स्वामिन्," बस, प्रभु इसे स्वीकार कर लेंगे। श्रीचैतन्यमहाप्रभु ने हमें इसी प्रकार भगवान् को पुकारने की शिक्षा दी है–

अयि नन्दतनुज किंकरं पतितं मां विषमे भवाम्बुधौ।
कृपया तव पादपंकजस्थित धूलीसदृशं विचिन्तय॥

"हे नंदकुमार, इस जन्म मृत्यु रूप घोर संसार रूपी समुद्र में पड़े हुए मुझ सेवक को कृपा करके अपने चरणकमलों की धूली (पराग) के समान समझिये।" (शिक्षाष्टक-५)

हमारी प्रार्थना का स्तर यही होना चाहिए। हमें केवल श्रीकृष्ण की भक्तिपूर्वक सेवा के लिए उनके चरण कमलों के पराग के एक कण के समान स्थान पाने की इच्छा रखनी चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी स्वार्थ से श्रीभगवान् की प्रार्थना करता है। यदि हम भगवान् से यह प्रार्थना करते हैं, "प्रभो, मुझे कुछ धन दीजिए, मुझे कुछ सहायता दीजिए, मुझे अच्छा घर, अच्छी पत्नी, या अच्छा भोजन दीजिए", तो यह भी ठीक है। तथापि यह (प्रार्थना) श्रीचैतन्य महाप्रभु की प्रार्थना के स्तर तक नहीं है। हमारी एकमात्र प्रार्थना यह होनी चाहिए कि प्रभु हमें जन्म-जन्म में अपनी सेवा या भक्ति करने योग्य बनाएँ। हमारी प्रार्थना यह होनी चाहिए, "हे प्रिय स्वामिन्, आप इतने महान् हैं कि मैं केवल आपकी सेवा में संलग्न रहना चाहता हूँ। मैं आज तक इन धूर्तों की सेवा करता रहा किंतु मुझे कभी सच्चा संतोष नहीं मिला। अब मैं आपके पास आया हूँ। कृपया मुझे अपनी सेवा के लिए अंगीकृत कीजिए।" बस यही सर्वश्रेष्ठ प्रार्थना है, यही प्रार्थना की चरम परिणति है। कुछ लोगों की शिकायत है कि जब वे भगवान् की

प्रार्थना करते हैं, तब उन्हें भगवान् की उपस्थिति का अनुभव नहीं होता। हमें ज्ञात होना चाहिए कि इसका कारण हमारी स्वयं की अपात्रता है, भगवान् की नहीं। उपस्थिति के दो स्वरूप हैं – भौतिक उपस्थिति और स्पंदनमय (शाब्दिक) उपस्थिति। भौतिक उपस्थिति तो अस्थायी है जबकि शाब्दिक उपस्थिति का स्वरूप शाश्वत है। जब हम भगवद्गीता में श्रीकृष्ण के उपदेशों की भावतरंगों का आनंद लेते हैं, या "हरे कृष्ण" कीर्तन करते हैं, तो हमें जानना चाहिए कि उन भावतरंगों के द्वारा श्रीकृष्ण तुरंत उपस्थित हो जाते हैं। वे पूर्ण हैं, इसलिए उनके शब्द भी उतने ही महत्वपूर्ण हैं : जितनी उनकी भौतिक उपस्थिति। जब हम श्रीकृष्ण अथवा अपने गुरु महाराज से वियोग का अनुभव करें, तो हमें केवल उनके उपदेशों के स्मरण का प्रयत्न करना चाहिए, बस फिर हमें उनके वियोग का अनुभव नहीं होगा। भगवान् श्रीकृष्ण अथवा गुरु के साथ हमारा संबंध उनकी वाणी के माध्यम के द्वारा होना चाहिए, भौतिक उपस्थिति के रूप में नहीं। वही सच्चा संबंध है। हम प्रत्यक्ष दर्शन पर इतना बल देते हैं किंतु जब श्रीकृष्ण इस भूतल पर विराजमान भी थे, अनेक लोगों ने उन्हें प्रत्यक्ष देखा परंतु उन्होंने यह अनुभव नहीं किया कि श्रीकृष्ण परब्रह्म, परम-ईश्वर या भगवान् हैं। इसलिए प्रत्यक्ष दर्शन का क्या लाभ है? श्रीकृष्ण के दर्शन करने पर हम उन्हें नहीं समझ पाएँगे किंतु उनके उपदेशों को सावधानी से सुनने से हम ज्ञान के धरातल पर आ सकते हैं। हम श्रीकृष्ण को शब्द–ध्वनि के द्वारा तुरंत स्पर्श कर सकते हैं, इसलिए हमें श्रीकृष्ण और गुरु की वाणी पर अधिक बल देना चाहिए। तब हमें सुख का अनुभव होगा और वियोग का अनुभव नहीं होगा।

श्रीमद्भागवत से हमें ज्ञात होता है कि जब भगवान् श्रीकृष्ण इस भूतल से अप्रगट हुए, तब अर्जुन अतिशय दुखमग्न हो गए थे। किंतु जब उन्होंने भगवद्गीता के उपदेशों को स्मरण करना आरंभ किया, वे स्थिर हो गए। अर्जुन श्रीकृष्ण के निरंतर सहचर थे, अतः जब श्रीकृष्ण अपने धाम को जाने लगे तो अर्जुन शोक से अभिभूत हो उठे। किंतु श्रीकृष्ण की

शिक्षाओं के स्मरण मात्र से उन्हें वियोग की पीड़ा से मुक्ति मिल गई। इस प्रकार जब भी हम वियोग का अनुभव करें, शिक्षाओं का स्मरण उस समय सर्वोत्तम है। भगवद्गीता के उपदेश अर्जुन और सभी मनुष्यों को सुखी बनाने के लिए दिए गए थे। यह बात श्रीकृष्ण ने गीता के दसवें अध्याय के आरंभ में कही है। उनका कथन है –

भूय एव महाबाहो श्रृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥

"हे महाबाहु अर्जुन, मेरे परम वचन को फिर सुनो, जो तुम्हें अपना प्रिय समझकर तुम्हारे कल्याण के लिए कह रहा हूँ और जिसे सुनकर तुम अतिशय आनंद का अनुभव करोगे।" (गीता १०.१)

श्रीकृष्ण के शब्द सुनकर और सावधानी से उनपर आचरण कर हम न केवल विश्व में "शांति," अपितु "परम शांति" स्थापित कर सकेंगे। जिस बात की एकमात्र आवश्यकता है, वह यह है कि हम श्रीकृष्ण के चरणकमलों की शरण में जाएँ और उनके गुणगान करते हुए इस श्रीकृष्ण-भावनामृत आंदोलन को विश्व के प्रत्येक नगर और ग्राम में अग्रसर करें। यह श्रीकृष्ण की प्रतिज्ञा है कि इस प्रकार की शरणागति से शांति और शाश्वत जीवन स्वतः प्रवर्तित हो जाएगा।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्ति स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥

"हे भरतवंशी अर्जुन, सब प्रकार से उन्हीं भगवान् की अनन्य शरण में जाओ। उनकी कृपा से तुम परम शांति और सनातन परम धाम को प्राप्त हो जाओगे।" (गीता १८.६२)

अध्याय–५

श्रीकृष्ण की शक्तियों का ज्ञान

श्रीकृष्ण के लिए भौतिक और आध्यात्मिक शक्तियों में कोई अंतर नहीं है। उनके लिए दोनों समान हैं। कभी विद्युत शक्ति शीतलीकरण के लिए और कभी उष्णीकरण के लिए प्रयुक्त होती है। किंतु विद्युत–शक्ति-गृह (पावर हाऊस) से उत्पन्न होने वाली विद्युत शक्ति वही होती है। इसी प्रकार श्रीकृष्ण की शक्ति सदैव आध्यात्मिक होती है किंतु वह भिन्न–भिन्न प्रकार से कार्य करती है। किसी नगर में लोक कल्याण विभाग और आरक्षी (पुलिस) विभाग हो सकता है। प्रशासन की दृष्टि में दोनों एक से ही हैं क्योंकि दोनों ही प्रशासन के अधीन अंग हैं। किंतु एक व्यक्ति के लिए दोनों ही भिन्न–भिन्न प्रकार की सेवा करते हैं। भौतिक शक्ति विभिन्न प्रकारों से कार्य कर सकती है, जो जीवों को बहुत रुचिकर न हो किंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि भौतिक शक्ति श्रीकृष्ण को प्रिय नहीं। यह उतनी ही महत्व-पूर्ण है जितनी आध्यात्मिक शक्ति। किंतु भौतिक शक्ति बद्ध जीवात्माओं को दंडित करने में संलग्न है जैसे आरक्षी (पुलिस) विभाग अपराधियों को दंडित करने में। ब्रह्मसंहिता में इस बात की पुष्टि की गई है कि श्रीकृष्ण की शक्ति सदैव आध्यात्मिक होती है किंतु कर्म के विभिन्न क्षेत्रों में यह विभिन्न प्रकार से कार्य करती है। श्रीकृष्ण के संबंध में भौतिक और आध्यात्मिक शक्तियों में भेद नहीं है। किंतु हम अपने समझने के लिए उनमें भेद करते हैं और कहते हैं कि कभी तो श्रीकृष्ण की शक्ति भौतिक ढंग से कार्य कर रही है और कभी आध्यात्मिक ढंग से। हम सोचते हैं कि ऊर्जा उष्ण अथवा शीतल है, अच्छी या बुरी है, रुचिकर या अरुचिकर है, पर वस्तुतः ऊर्जा वही एक है।

श्रीकृष्ण निकृष्ट शक्ति का वितरण नहीं कर सकते क्योंकि वे उत्कृष्ट हैं। वे सदैव ही सर्वश्रेष्ठ, आत्मस्वरूप हैं, इसलिए उनकी शक्ति सदैव आध्यात्मिक है। सुभद्रा जी श्रीकृष्ण की बहन हैं और उनसे दुर्गा का अवतार हुआ है, जो भौतिक शक्ति का मूर्तिमान् स्वरूप हैं। सुभद्रा आध्यात्मिक जगत् में हैं और वे शाश्वत रूप से श्रीकृष्ण से उनकी शक्ति की भाँति संबंधित हैं किंतु जब दुर्गा इस भौतिक जगत् में अपने कार्यकलाप करती हैं, तो यह बात ठीक नहीं कि उन्हें निकृष्ट या हीन माना जाए। भगवद्‌गीता और ब्रह्मसंहिता दोनों में कहा गया है कि दुर्गा या माया श्रीकृष्ण की अध्यक्षता में कार्य करती हैं। अतः वे हीन कैसे मानी जा सकती हैं? अपराधी लोग भले ही सोचें कि आरक्षी (पुलिस) विभाग प्रशासन का कोई निकृष्ट विभाग है किंतु विधि या नियमों का पालन करने वाले नागरिक ऐसा नहीं मानते। वास्तविकता केवल इतनी है कि आरक्षी विभाग एक विशेष ढंग से कार्य करता है। इसी प्रकार भौतिक शक्ति जो श्रीकृष्ण के निर्देशन में कार्य करती है, जीवात्माओं को विभ्रम में डाल देती है।

हम जीवात्माएँ भौतिक शक्ति के अंतर्गत हैं और इस स्थिति में इसलिए हैं कि हम भौतिक प्रकृति पर शासन करना चाहते हैं। श्रीकृष्ण यह कह कर हमें सुविधा देते हैं, "अच्छा ठीक है, तुम प्रयास करो किंतु तुम सफल नहीं हो सकते।" जब तक हम इस विषय में अज्ञानी हैं कि प्रकृति के नियम श्रीकृष्ण के सर्वोच्च निर्देशन में किस प्रकार कार्यान्वित होते हैं तब तक हम अपने कार्यों में विफल होते रहेंगे। जब हम श्रीकृष्ण को तत्वतः समग्रता से समझ लेंगे, तब हम प्रकृति के नियमों को भी स्वयं ही समझ जाएँगे और यह भी कि वे नियम किस प्रकार कार्यान्वित होते हैं। वैष्णव लोगों का प्रयोजन भौतिक प्रकृति के नियमों की पृष्ठभूमि से है। जब हम श्रीकृष्ण को समग्रता से समझ लेंगे, तो हम यह भी जान जाएँगे कि वस्तुतः कोई शक्ति निकृष्ट या भौतिक नहीं है अपितु प्रत्येक वस्तु आध्यात्मिक है। हमें यह समझ लेना चाहिए कि उच्च धरातल पर हम जो कुछ अनुभव कर रहे हैं, वे सब श्रीभगवान् की विभिन्न शक्तियों की क्रियाएँ–प्रतिक्रियाएँ हैं।

जब हम श्रीकृष्ण को पूर्णतया समझ लेंगे तब निकृष्ट और उत्कृष्ट शक्तियों के ये भेद लुप्त हो जाएँगे। जो कुछ श्रीकृष्ण की सेवा में है, वह श्रेष्ठ शक्ति है। उच्च अर्थ में प्रत्येक पदार्थ श्रीकृष्ण की सेवा में संलग्न है और वे लोग जो अत्यंत उच्च धरातल पर स्थित हैं, वे ही यह बात समझ सकते हैं।

वैदिक साहित्य से प्रामाणित होता है कि भगवान् की अनेक शक्तियाँ हैं। तथापि भगवान् को व्यक्तिगत रूप से कुछ करना नहीं होता। यह कैसे ? उन्हें धन-संपदा के लिए कोई संघर्ष नहीं करना पड़ता क्योंकि समस्त संपत्ति उन्हीं की है, न ज्ञान के लिए क्योंकि समस्त ज्ञान उन्हीं का है, न शक्ति के लिए क्योंकि समस्त शक्ति उन्हीं की है, न सौंदर्य, यश या वैराग्य के लिए क्योंकि ये सब अपने समग्र रूप में उन्हीं के हैं। न श्रीभगवान् स्वयं विश्व के कार्यकलाप को संचालित करते हैं, क्योंकि उनके अनेक अनुचर हैं, जो उन कार्यों का संचालन उस समय कर सकते हैं, जब श्रीकृष्ण परम धाम में स्थित होते हैं। यह तथ्य श्रीईशोपनिषद् से समर्थित है—

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥

"अपने धाम में स्थित होते हुए भी सबके आदि और सब कुछ जानने वाले भगवान् मन से भी अधिक वेगवान् हैं और दौड़ने में सबसे आगे निकल जाते हैं। शक्तिशाली देवता भी उन तक नहीं पहुँच सकते। एक स्थान पर स्थित होते हुए भी वे वायु और वर्षा के देवताओं पर नियंत्रण रखते हैं। वे उत्तमता में सर्वश्रेष्ठ हैं।" (श्रीईशोपनिषद्-४)

इस प्रकार श्रीकृष्ण को कुछ करना नहीं होता। परम-ईश्वर भगवान् के रूप में वे गोपियों और अपनी संगिनी श्रीमती राधारानी के साथ केवल आनंद लीला में संलग्न रहते हैं। श्रीकृष्ण वास्तव में कृष्ण-रूप में दानवों का संहार नहीं करते। जब श्रीकृष्ण दानवों का संहार करते हैं, तब वे वासुदेव कृष्ण के नाम से जाने जाते हैं, मूल (आदि) श्रीकृष्ण नहीं। जब श्रीकृष्ण स्वयं का प्रकाश (विस्तार) करते हैं, तब वे सर्वप्रथम

श्रीबलराम, फिर श्रीसंकर्षण, फिर श्रीप्रद्युम्न, फिर श्रीअनिरुद्ध और फिर श्रीवासुदेव के रूप में अपना प्रकाश करते हैं। श्रीवासुदेव के रूप में मथुरा और द्वारका में कार्य करते हैं किंतु अपने आदि कृष्ण–रूप में वे श्रीवृंदावन में ही रहते हैं। यह बात भ्रम में डाल देने वाली लगती है। यहां तक कि बंगाल के महान् उपन्यासकारों में से एक व्यक्ति, भ्रम में पड़ गया और सोचने लगा कि वृंदावन के श्रीकृष्ण, द्वारका के श्रीकृष्ण और मथुरा के श्रीकृष्ण तीन भिन्न व्यक्ति थे। किंतु यदि हम श्रीकृष्ण के प्रकाश (विस्तार) के तत्व को जान लें तो यह समझना कठिन नहीं है कि श्रीकृष्ण वास्तव में एक ही हैं। श्रीकृष्ण वही हैं और अद्वितीय हैं। वे अपने को कोटि कोटि रूपों में विस्तृत कर सकते हैं। यह सब उनके आनंद के लिए होता है।

भगवद्गीता के दसवें अध्याय में श्रीकृष्ण अर्जुन को अपने विभिन्न विभूतिमय स्वरूपों को इस प्रकार समझाते हैं –

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम्॥

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः॥

"हे अर्जुन! घोड़ों में सागर के अमृत से उत्पन्न उच्चैःश्रवा नामक घोड़ा और गजराजों में ऐरावत नामक हाथी और मनुष्यों में राजा मुझको ही जानो। मैं शस्त्रों में व्रज, गायों में पर्याप्त दूध देने वाली गाय कामधेनु, शास्त्रोक्त रीति से संतान को उत्पन्न करने वाले कामदेव और सर्पों में सर्पराज वासुकि मैं हूं।" (गीता १०.२७–२८)

श्रीकृष्ण इसी अध्याय में आगे इस भौतिक सृष्टि में अपनी अनेक महान् विभूतियों की गणना करते हैं और बताते हैं कि उनमें से प्रत्येक शक्ति किस प्रकार उनका प्रतिनिधित्व करती है। इन विभूतियों का सविस्तार वर्णन करते हुए अंत में वे निष्कर्ष देते हैं –

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥

"अथवा हे अर्जुन, इस बहुत जानने से तुम्हारा क्या प्रयोजन है ? तुम केवल इतना जान लो कि अपने एक अंश मात्र से इस संपूर्ण जगत् को धारण करके मैं इसमें व्याप्त हो रहा हूँ।" (गीता १०.४२)

इस प्रकार इस भौतिक जगत् का अस्तित्व श्रीकृष्ण के एक अंश पर टिका है। यदि श्रीकृष्ण इस जगत् में प्रविष्ट न होते तो इस जगत् का अस्तित्व ही न होता। इसी प्रकार जब तक आत्मा, जो श्रीकृष्ण का एक लघु अंश है इस शरीर में प्रविष्ट नहीं होती तो यह शरीर अस्तित्व में नहीं रह सकता। जैसे ही यह आत्मा शरीर को छोड़ती है, वैसे ही यह शरीर तुरंत व्यर्थ हो जाता है। यह तथ्य एक सूक्ष्म अणु और ब्रह्मांड दोनों के लिए समान रूप से सत्य है।

भगवान् श्रीकृष्ण की विभूतियाँ और शक्तियाँ इतनी महान् हैं, कि हमें यह भी जानना चाहिए की उनका आनंदास्वाद भी हमारे आनंदोपभोग से कहीं बड़ा है। हमें यह समझने का प्रयत्न करना चाहिए कि श्रीकृष्ण किस प्रकार के आनंद का आस्वादन करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि भगवान् महान् हैं, इसीसे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि उनका आनंदास्वादन भी महान् है। इस विषय में स्वरूप दामोदर गोस्वामी ने एक श्लोक लिखा है कि यद्यपि श्रीराधा-कृष्ण की प्रणयलीला एक साधारण प्राकृत प्रेम-व्यवहार जैसी दिखती है किंतु वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। श्रीमती राधारानी श्रीकृष्ण की आह्लादिनी शक्ति हैं। वेदांतसूत्र में ब्रह्म को आह्लादिनी शक्ति का सदा आनंदास्वाद करते हुए बताया गया है। जब हम आनंद का उपभोग करना चाहते हैं, तो हम अकेले नहीं रह सकते। हम अपने मित्रों या परिवार की संगति में आनंदित होते हैं। मैं एक कमरे में अकेला बोल सकता हूँ किंतु यदि मैं उस कमरे में अन्य लोगों के सामने बोलूं तो मेरा आनंद बढ़ जाता है। आनंद का तात्पर्य है कि अन्य की उप-

स्थिति हो। इसलिए परम सत्य श्रीकृष्ण जो सदैव स्वतः अपने आनंद में मग्न हैं, उनके अनेक रूप हो जाते हैं।

हम कृष्ण के विभिन्न–अंश हैं और हमारी सृष्टि श्रीकृष्ण को आनंदित करने के लिए हुई है। मुख्य आह्लादिनी शक्ति श्रीमती राधारानी हैं, अतः श्रीराधाकृष्ण सदा साथ रहते हैं। भौतिक जगत् बहिरंग शक्ति 'माया' से संचालित होता है जबकि आध्यात्मिक जगत् अंतरंग शक्ति श्रीमती राधारानी के द्वारा संचालित होता है। हम प्रायः श्रीमती राधारानी की स्तुति करते हैं क्योंकि वे श्रीकृष्ण की आह्लादिनी शक्ति हैं। 'कृष्ण' शब्द का मूल अर्थ है, "सबको आकर्षित करने वाले" किंतु श्रीमती राधारानी इतनी महिमाशालिनी हैं कि वे श्रीकृष्ण को भी आकर्षित करती हैं, तो हम श्रीमती राधारानी की महत्ता की स्थिति की कल्पना कैसे कर सकते हैं। बस हमें अतिशय विनम्र भाव से उस स्थिति को समझने का प्रयत्न करना चाहिए और यह कहते हुए उन्हें अपना प्रणाम निवेदन करना चाहिए, "राधारानी, आप श्रीकृष्ण की अतिप्रिया हैं, आप राजा वृषभानु की पुत्री हैं। हम आपकी सादर वंदना करते हैं।" श्रीमती राधारानी श्रीकृष्ण को अतिशय प्रिय हैं और यदि हम श्रीकृष्ण के निकट श्रीमती राधारानी की कृपा के माध्यम से पहुँचने का प्रयास करें तो हम भी श्रीकृष्ण को सरलता से प्राप्त कर सकते हैं। यदि श्रीमती राधारानी किसी भक्त की संस्तुति (अनुमोदन) करती हैं तो श्रीकृष्ण तुरंत उसे स्वीकार कर लेते हैं, चाहे भक्त कितना ही मूर्ख क्यों न हो। फलतः वृंदावन धाम में हम देखते हैं कि भक्त गण कृष्ण–नाम की अपेक्षा राधा–नाम का संकीर्तन अधिक करते हैं। हम भारत में कहीं भी जाएँ, भक्त गण "जय राधे" पुकारते हुए मिलेंगे। हमें श्रीमती राधारानी की उपासना में अत्यधिक रुचि रखनी चाहिए क्योंकि हम कितने भी पतित क्यों न हों, यदि येन केन प्रकारेण, हम श्रीमती राधारानी को प्रसन्न कर लें, तो हम श्रीकृष्ण को बहुत सरलता से समझ सकते हैं। यदि हम ज्ञान या योग की प्रक्रिया से श्रीकृष्ण को समझने का प्रयास करेंगे तो हमें कई जन्मों तक समाधि लगानी पड़ेगी किंतु यदि हम प्रेम भक्ति का

आश्रय लें और केवल श्रीमती राधारानी को प्रसन्न करने का प्रयास करें तो श्रीकृष्ण का साक्षात्कार बहुत सरलता से हो सकता है। श्रीमती राधा-रानी इतनी महिमाशालिनी भक्ता हैं कि वे श्रीकृष्ण दे सकती हैं।

स्वयं श्रीकृष्ण भी श्रीमती राधारानी के गुणों और विशेषताओं को नहीं समझ सकते। वे श्रीमती राधारानी को समझने में विफल हो जाते हैं। श्रीमती राधारानी को तत्वतः जानने के लिए श्रीकृष्ण ने उनके स्वरूप और भाव को धारण किया। श्रीकृष्ण ने सोचा, "यद्यपि मैं सब दृष्टियों से परि-पूर्ण हूँ तथापि मैं राधारानी को नहीं समझ पाता। ऐसा क्यों है?" इस तथ्य ने श्रीकृष्ण को राधा–भाव स्वीकार करने के लिए बाध्य कर दिया। बस यही भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु के रूप में श्रीकृष्ण के अवतार का कारण है। श्रीचैतन्य महाप्रभु स्वयं श्रीकृष्ण हैं किंतु वे श्रीमती राधारानी के भाव को स्वीकार किए हुए श्रीकृष्ण हैं। जिस प्रकार श्रीमती राधारानी सदैव कृष्ण–वियोग का अनुभव करती हैं, इसी प्रकार राधा–भाव में स्थित श्रीचैतन्य महाप्रभु भी उसी वियोग का अनुभव करते हैं। इतना ही नहीं, जो भक्त भगवान् श्रीचैतन्यदेव की शिक्षाओं का पालन करते हैं, उन्हें विरह भाव – अनुभव करके उसका आनंदास्वादन करना चाहिए, संयोग भाव का नहीं।

श्रीचैतन्य महाप्रभु के शिष्य जन, अत्यंत उच्च आध्यात्मिक धरातल पर स्थित, सर्वगुण संपन्न गोस्वामियों ने कभी नहीं कहा, "मैंने श्रीकृष्ण के दर्शन किए हैं।" अपितु वे प्रेमरुद्ध कंठ से निरंतर कहते रहे, "कहाँ हैं श्रीमती राधारानी? कहाँ हैं ललिता, विशाखा और वृंदावन की अन्य गोपियाँ?" श्रीभगवान् के प्रेम की परिपक्वावस्था में, जब ये गोस्वामी जन वृंदावन में निवास करते थे तब भी यह कहते हुए क्रंदन करते थे, "हे राधा-रानी, आप कहाँ हैं? आपकी सखियाँ कहाँ हैं? हे नंदकुमार, आप सब कहाँ हैं?" इस प्रकार वे श्रीकृष्ण की खोज करते थे। उन्होंने कभी नहीं कहा, "मैंने गत रात्रि को श्रीकृष्ण को गोपिकाओं के साथ नृत्य करते देखा।" कोई सिद्ध (परिपक्व) भक्त इस प्रकार के दावे नहीं किया करता। ऐसा

तो वही करता है जो आध्यात्मिकता को बहुत सस्ते ढंग से लेता है। कुछ लोग समझते हैं कि राधा–कृष्ण इतने सस्ते हैं कि प्रत्येक रात्रि को देखे जा सकते हैं। किंतु यह उन षड् गोस्वामियों की शिक्षा नहीं है जो रोते हुए सदा कृष्ण की खोज किया करते थे, "आप राधारानी कहाँ हैं, कहाँ हैं ? आप कृष्ण कहाँ हैं ? क्या आप गिरि गोवर्धन पर हैं ? क्या आप यमुना के तट पर हैं ?" इस प्रकार वृंदावन के समस्त भूभाग में ये गोस्वामी जन रोते हुए, विक्षिप्तों की भाँति, श्रीराधाकृष्ण की खोज किया करते थे। हमें गोस्वामियों का अनुगमन करते हुए इस प्रकार श्रीराधाकृष्ण की खोज करनी चाहिए। वृंदावन हमारे हृदय में है और हमें श्रीकृष्ण की खोज वहाँ करनी चाहिए। श्रीचैतन्य महाप्रभु ने यही विरहोपासना का मार्ग बताया है। कृष्ण–वियोग का अनुभव करते हुए श्रीचैतन्यदेव स्वयं समुद्र में कूद पड़ते थे। कभी वे रात्रि के घने अँधेरे में अपना निवास छोड़कर चले जाते थे। कोई नहीं जान पाता कि वे कहाँ चले गए। किंतु प्रतिक्षण वे श्रीकृष्ण की खोज में रहते थे। इस प्रकार यह उचित नहीं है कि हम श्रीराधाकृष्ण की प्रणयलीला को एक तमाशे की भाँति देखकर मनोरंजन करें। हमें श्रीराधाकृष्ण के वियोग का स्वयं अनुभव करना चाहिए। हम जितना ही विरह अनुभव करते हैं, उतना ही आध्यात्म क्षेत्र में बढ़े हुए समझना चाहिए। अपनी भौतिक इंद्रियों से हम श्रीकृष्ण को नहीं देख सकते, उनका नाम तक नहीं सुन सकते। हम उनका साक्षात्कार तभी कर सकते हैं, जब हम भक्ति मार्ग में आगे बढ़ें। वह भक्ति जिह्वा (जीभ) से आरंभ होती है, चरणों, नेत्रों, या कानों से नहीं। जिह्वा का उपयोग

हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे॥

इस मंत्र के कीर्तन और कृष्ण का प्रसाद ग्रहण करने के लिए होना चाहिए। इस प्रकार जिह्वा के दो कार्य हैं और इसे ऐसे प्रयुक्त करके हम श्रीकृष्ण का साक्षात्कार कर सकते हैं। हम अपने नेत्रों से श्रीकृष्ण को नहीं देख सकते। न अपने भौतिक कानों से उनके गुण सुन सकते हैं। न अपने हाथों

से उन्हें छू सकते हैं किंतु यदि हम अपनी जिह्वा को उनकी सेवा में लगा देंगे, तो वे स्वयं को यह कहते हुए प्रकट कर देंगे, "मैं यहाँ हूँ।"

हरे कृष्ण कीर्तन भौतिक प्रकृति की प्रचंड अग्नि को बुझा देता है। गुरुदेव की निम्नांकित स्तुति का भी तात्पर्य यही है –

संसारदावानललीढलोक
त्राणाय कारुण्यघनाघनत्वम् ।
प्राप्तस्य कल्याण गुणार्णवस्य
वन्दे गुरोः श्री चरणारविन्दम् ॥

"संसार रूपी दावानल से जलते हुए लोक की रक्षा के लिए जिन गुरु महाराज को करुणाकंद (मेघ) श्रीभगवान् का अमोघ आशीर्वाद प्राप्त है और जो मंगलमय गुणों के समुद्र हैं, उन गुरु महाराज के श्रीचरणकमल की मैं वंदना करता हूँ।" (श्रीगुर्वाष्टक–१)

इस भौतिक संसार की तुलना प्रायः दावानल (वन की अग्नि) से की जाती है, जो वन में स्वयं उत्पन्न हो जाता है। कोई नहीं चाहता कि वन में आग लगे किंतु प्रायः बिजली गिरने, रगड़ उत्पन्न होने, असावधानी या किसी अन्य कारण से आग लग ही जाती है। उसी प्रकार यह भौतिक सागर अनेक ज्वलंत समस्याओं की आग से घिरा हुआ है। प्रत्येक व्यक्ति यहाँ शांतिपूर्वक रहना चाहता है किंतु परिस्थितियाँ कुछ ऐसी बन जाती हैं कि किसी के लिए शांति से रहना संभव नहीं हो पाता। हम वस्तुस्थिति से सामंजस्य स्थापित करने के लिए घोर संघर्ष करते है किंतु प्रकृति के नियम इतने क्रूर और भयावह हैं कि हमारी आशाओं और योजनाओं के पश्चात् भी इस भौतिक जीवन की समस्याओं की भीषण अग्नि विद्यमान ही रहती है।

उदाहरण के लिए, इस शताब्दी में हमने युद्ध की अग्नि को शांत करने का प्रयत्न किया है किंतु यह संभव नहीं हो सका। प्रथम विश्वयुद्ध हुआ और तब द्वितीय महायुद्ध को रोकने के लिए एक राष्ट्र–महासभा

(लीग ऑफ नेशन्स) बनाई गई किंतु उसके प्रयत्न के उपरांत भी द्वितीय महा-युद्ध होकर रहा। अब युद्धों को रोकने के लिए एक संयुक्त राष्ट्र संघ बना है किंतु वियतनाम, मिस्र, पाकिस्तान, और अन्य देशों में युद्ध होता ही रहता है। कोई देश तीसरा विश्वयुद्ध नहीं चाहता किंतु वह निकट ही दिखाई देता है। यह संभव नहीं है कि वन की अग्नि को अग्नि संयंत्र (फायर ब्रिगेड) या पानी की बाल्टियों के द्वारा कुछ मनुष्य बुझा सकें। धू धू करके जलती हुई जंगल की आग को बुझाने के लिए प्रचुर जलराशि चाहिए। दूसरे शब्दों में कहें तो दावानल को शांत करने के लिए एक ऐसा प्रबंध होना चाहिए जो मनुष्य के प्रयत्नों से अधिक हो। जब वन की अग्नि के ऊपर कृपामय मेघ हो और मूसलधार वर्षा करे तो वह ज्वालामय अग्नि तुरंत शांत हो जाती है। जैसे बादल, समुद्र से जल-संचय करता है, उसी प्रकार गुरु महाराज श्रीकृष्ण की कृपा के समुद्र से जल संचित करते हैं और भौतिक जीवन की प्रचंड अग्नि पर वर्षा कराते हैं। इस प्रकार जो कृष्ण-कृपा की वर्षा करते हैं वे ही गुरुदेव कहलाते हैं।

वैदिक साहित्य में कहा गया है कि श्रीकृष्णभावनामृत के दिव्य विज्ञान को समझने के लिए हमें समस्याओं की इस भीषण आग को बुझाने का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। वैज्ञानिक लोग, दार्शनिक लोग और अन्य सुशिक्षित जन आग को बुझाने का घोर प्रयत्न कर रहे हैं किंतु परिणाम में और बड़े बम ही बम बनते दिखाई देते हैं। कर्मी लोग इस आग को बुझाने या इस भौतिक जीवन की दयनीय दशा को सुधारने के लिए रात दिन घन-घोर परिश्रम कर रहे हैं। ज्ञानी अथवा दार्शनिक लोग भी प्रयत्न कर रहे हैं किंतु वे निराश हो चुके हैं और घोषणा करते हैं, "यह संसार मिथ्या है।" ऐसा सोचकर वे ब्रह्म की सत्ता में लीन होने का प्रयत्न करते हैं और वे इस प्रकार आग बुझा देते हैं। यह उस सियार की भाँति है, जो एक अंगूर की बेलि से कुछ अंगूर पाना चाहता है किंतु जब सफल नहीं होता तो कहता है, "ऊँह, ये अंगूर तो खट्टे हैं।" योगी लोग कुछ और ही उच्च यौगिक शक्ति प्राप्त करना चाहते हैं। वे महान् से भी महत्तर, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म-

तर, लघु से भी लघुतर, गुरु से भी गुरुतर बनना चाहते हैं किंतु यह पूर्ण-रूपेण बालकों की सी बात है। किसी भी भौतिक शरीर के साथ भौतिक जीवन की समस्याएँ अवश्य ही रहेंगी, चाहे वह शरीर महान् हो या तुच्छ, हलका हो या भारी। इस प्रकार एक व्यक्ति चाहे एक स्तर से दूसरे स्तर तक, कर्मी से ज्ञानी या योगी के स्तर तक पहुँच जाए किंतु प्रत्येक स्थिति में उस व्यक्ति को अंत में भक्ति के स्तर पर पहुँचना ही पड़ता है। यही यथार्थ विकास की प्रक्रिया है। श्रीमद्भगवद्गीता मे इसका इस प्रकार संकेत है –

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥

"बहुत जन्म–जन्मांतरों के अंत में यथार्थ ज्ञानी मुझे सब कारणों का परम कारण और सर्वरूप जानकर मेरी शरण ग्रहण करता है। ऐसा महात्मा अत्यंत दुर्लभ है।" (गीता ७.१९)

कृष्ण–शरणागति ही मूल बिंदु है। वही जीवन और भक्तों का लक्ष्य है। संसार के बुद्धिमान् लोग इस शरण की स्थिति को अविलंब ग्रहण कर लेते हैं। इसीलिए श्रीकृष्ण कहते हैं कि वे लोग बुद्धिमान् हैं। यदि अनेका-नेक जन्मों के पश्चात् भी इसी शरण–बिंदु पर पहुँचना है, तो अविलंब ही क्यों न पहुँच जाएँ ?

भौतिक प्रकृति की प्रचंड अग्नि का नियंत्रण दुर्गा करती हैं। उनका चित्रण प्रायः हाथों में आयुधों (शस्त्रों) के साथ किया जाता है। उनके दस हाथ हैं और प्रत्येक हाथ एक विभिन्न आयुध लिए हुए है। इससे यह अभि-प्राय है कि वे इस विश्व की दसों दिशाओं का शासन कर रही हैं। वे असुरों को दंडित करने के लिए भिन्न–भिन्न आयुधों का प्रयोग करती हैं। एक प्रसिद्ध चित्र में दिखाया गया है कि एक असुर दुर्गा के सिंह से जूझ रहा है, दुर्गादेवी उस असुर के बाल खींच रही हैं और अपने त्रिशूल से उसकी छाती पर प्रहार कर रही हैं। यदि हम इस चित्र का अध्ययन करें तो हम पाएँगे

कि हम ही वह असुर हैं और त्रिशूल ही इस भौतिक जीवन के त्रिविध–ताप (भौतिक, दैविक, आध्यात्मिक दुख) हैं, जिनसे हम सदैव पीड़ित हैं। जो दुख अन्य प्राणियों से प्राप्त होते हैं वे "भौतिक" हैं, जो दुख प्राकृतिक प्रकोप (भूकंप, अकाल आदि) से प्राप्त होते हैं, वे "दैविक" है और जो दुख अपने ही मन और शरीर से प्राप्त होते हैं, वे "आध्यात्मिक" हैं। किसी न किसी प्रकार हम सदैव इन त्रितापों से संघर्ष करते रहते हैं। इस भौतिक सृष्टि में कोई भी व्यक्ति नहीं कह सकता कि वह इन त्रिपातों से मुक्त है। इस भौतिक प्रकृति का त्रिशूल प्रत्येक व्यक्ति की छाती पर अड़ा हुआ है, इस कारण इस भौतिक जगत् में सच्चा आनंद संभव नहीं है। हम माँ दुर्गा की पूजा करके या उन्हें कुछ उत्कोच (रिश्वत) देकर संतुष्ट करने का प्रयत्न भले ही करें किंतु दुर्गा को उत्कोच देना संभव नहीं है।

अतः हमें जान लेना चाहिए कि हमारे जीवन का उद्देश्य श्रीभगवान् को समझ लेना है। हमें सामाजिक, राजनीतिक, दार्शनिक, या धार्मिक सभी व्यवस्थाएँ करनी चाहिए किंतु मूल उद्देश्य भगवान् तक पहुँचना ही होना चाहिए। वेदों में कहा गया है कि उच्च कोटि के विद्वान् और सृष्टि के देवता लोग केवल श्रीकृष्ण के चरणकमलों का ही आश्रय लेते हैं। मनुष्य-सभ्यता का उद्देश्य भी यही होना चाहिए। श्रीकृष्ण के चरणकमलों का आश्रय लिए बिना सभी धार्मिक, सामाजिक या राजनीतिक प्रयास विफल हो जाएँगे। जब तक हमारी आकांक्षाएँ भौतिक जगत् में बद्ध हैं, तब तक प्रगति करना संभव नहीं है। इस संबंध में एक वरयात्रा (बारात) की कहानी है। इस बारात को नदी के मार्ग से होकर वधु के घर जाना था। यह निश्चय हुआ था कि वे लोग नाव के द्वारा रात को प्रस्थान करेंगे और सबेरा होते–होते अपने गंतव्य स्थान पर पहुँच जाएँगे। अतः रात्रि को भोजन के पश्चात् बारात के लोग बहुत प्रसन्नता के साथ सुखपूर्वक नाव में बैठे और नाविकों को नाव चलाने की आज्ञा दी। चूंकि सभी बाराती बड़े आराम से बैठ गए थे और नदी की शीतल वायु बड़ी सुखद थी, वे रात को गहरी नींद में सो गए। सबेरे वे सब जल्दी जग गए किंतु उन्होंने बड़े

आश्चर्य से देखा कि नाव अपने गंतव्य की ओर एक पग भी नहीं बढ़ी थी यद्यपि नाविक लोग बड़े बलपूर्वक रात भर नाव खेते रहे थे । अंत में पूछने पर पता लगा कि नाव का लंगर ही नहीं उठाया गया था । इसलिए रात भर खेने पर भी नाव नहीं चली । इस मूर्खतापूर्ण त्रुटि के कारण विवाहोत्सव ही नष्ट हो गया । इसलिए हमारी वर्तमान सभ्यता एक त्रुटिपूर्ण सभ्यता है क्योंकि भूले–भटके नेता लोग, आसक्ति का लंगर उठाना भूल गए हैं । अपितु लंगर को और भी दृढ़ता से स्थापित किया जा रहा है । क्योंकि उन्होंने सामाजिक व्यवस्था को इंद्रियतृप्ति के आधार पर निर्मित किया है । विविध योजनाओं पर आधारित इंद्रियतृप्ति वाले इस सामाजिक और राजनीतिक ढाँचे की चर्चा श्रीमद्भगवद्गीता में इस प्रकार की गई है–

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥
चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥

"ये असुर कभी न तृप्त होने वाले काम, दर्प और मिथ्या अभिमान का आश्रय लेकर मोहवश क्षणभंगुर पदार्थों में आसक्त हुए दूषित कर्म का व्रत धारण किए रहते हैं । वे मानते हैं कि जीवन के अंतिम क्षण तक इंद्रियों की तृप्ति करना ही मनुष्य योनि का प्रधान प्रयोजन है । इसलिए उनकी चिंताओं का कभी अंत नहीं होता ।" (गीता १६.१०–११)

समाज के नेता पूर्वोक्त नाविकों की भाँति भ्रम में हैं । वे हमें थोड़ा सा अस्थायी लाभ उठाने के लिए दिग्भ्रमित कर रहे हैं किंतु उनकी योजनाएँ कितने दिन चल सकेंगी ? यदि वे हृदय–रोग से मरने या किसी हत्यारे के द्वारा मारे जाने के क्षण तक अपनी योजनाओं से चिपके भी रहें, तो उनके बाद कोई उन्हीं जैसा व्यक्ति उनका स्थान ले लेता है । यहाँ तक कि वर्तमान समाज के दार्शनिक भी भौतिक नाम और सुयश की छलना में आ जाते हैं इसलिए वे सामान्य जनता को उचित दिशा में अग्रसर नहीं करते ।

इस प्रकार जीवन का लंगर इंद्रियतृप्ति के लिए अज्ञान के जल में गहरा गड़ा रहता है और हमारी तथाकथित सभ्यता का एक बद्ध जलाशय में क्षय होता रहता है। गतिशील न होने के कारण हम सदा समस्यापूर्ण जीवन के उसी पोतगृह (बंदरगाह) में पड़े रहते हैं। युद्ध, अकाल, भूकंप और अन्य विनाशकारी उपद्रवों के समय सारी योजनाएँ केवल लिखित सिद्धांत से अधिक सिद्ध नहीं होतीं। ये सब उपद्रव माँ दुर्गा की ओर से चेतावनी हैं और इनके द्वारा वे भ्रमित योजना-निर्माताओं पर अपनी श्रेष्ठता का प्रमाण देती रहती हैं। हमारी नौका के लंगर में आसक्ति के अनेक भार बँधे हुए हैं जो हमें भौतिक जीवन में जकड़े हुए हैं। आध्यात्मिक तथ्यों को न जानने के कारण भौतिक शरीर के प्रति हमारी आसक्ति, जन्मभूमि और भौतिक संपत्ति के प्रति हमारी आसक्ति, भौतिक विज्ञान के प्रति हमारी आसक्ति, सच्चा उद्देश्य जाने बिना धार्मिक विधि-विधानों के प्रति हमारी आसक्ति—ये सभी मनुष्य-शरीर की नाव का लंगर भौतिक विश्व में डाले रहती हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में एक सुदृढ़ मूल वाले अश्वत्थ (पीपल) वृक्ष का उदाहरण देकर हमें आसक्ति से सदा सदा के लिए छुटकारा पाने का उपाय बताया है—

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल
मसंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥

"इस वृक्ष का वास्तविक रूप इस संसार में प्रत्यक्ष नहीं होता। इसके आदि, अंत अथवा आधार को भी कोई नहीं जान सकता। अतएव इस संसार-वृक्ष को दृढ़ निश्चय के साथ वैराग्य रूप शस्त्र के द्वारा काट कर, फिर उस

परम पद को खोजना चाहिए, जिसे प्राप्त होकर संसार में फिर नहीं आना पड़ता। इसके लिए उन्हीं आदिपुरुष श्रीभगवान् के शरणागत हो जाय, जिनसे यह पुरातन संसार–प्रवृत्ति फैली है और अनादि काल से जिनके आश्रित है।" (गीता १५.३–४)

अपनी सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ का पूर्ण ज्ञान रखने वाले श्रीभगवान् हमारे हित के लिए उपदेश देते हैं कि हमें इस भौतिक जीवन से मुक्ति की कामना अवश्य करनी चाहिए। हमें प्रत्येक भौतिक पदार्थ से स्वयं को मुक्त कर लेना चाहिए। अब इस अव्यवस्थित दशा को अनुकूल बनाने का सर्वश्रेष्ठ उपाय यही है कि हम अपने भौतिक जीवन को शत प्रतिशत आध्यात्मिकता से ओत–प्रोत करके श्रीकृष्ण के संदेश, उनके नाम और भक्तों से सदा के लिए युक्त कर दें। अतः प्रत्येक व्यक्ति जो साधारणतया भौतिक कर्मों में संलग्न रहता है, इस श्रीकृष्णभावनामृत आंदोलन से उच्चतम लाभ उठा सकता है। सत्य तो यह है कि अन्य सभी आध्यात्मिक प्रयास भी कहीं न कहीं भौतिकता से मिश्रित और प्रभावित हैं। केवल शुद्ध प्रेम भक्ति ही समस्त दोषों से परे है। हमें कृत्रिम रूप से भौतिकता के सिद्धांतों को ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है, हमें केवल अपने मन को परम प्रभु, पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमलों में संलग्न कर देना है।





अध्याय–६

श्रीकृष्णभावनामृत का आश्रय

भारत में समस्त शास्त्र और महान् आध्यात्मिक आचार्य जिनमें श्रीशंकराचार्य जैसे निराकारवादी भी सम्मिलित हैं, श्रीकृष्ण को भगवान् मानते हैं। भगवद्गीता पर अपने भाष्य के आरंभ में शंकराचार्य कहते हैं कि "श्रीनारायण इस व्यक्त और अव्यक्त सृष्टि से परे हैं।" उसी भाष्य में वे कहते हैं कि "भगवान् श्रीनारायण ही श्रीकृष्ण हैं, जो देवकी और वसुदेव के पुत्र–रूप में प्रकट हुए हैं।" इस प्रकार श्रीकृष्ण के परब्रह्मत्व या भगवत्ता के विषय में कोई मतभेद नहीं है। जो प्रामाणिक आचार्य हैं, चाहे वे साकारवादी हैं या निराकारवादी, वे स्वीकार करते हैं कि श्रीकृष्ण भगवान् हैं।

जब श्रीकृष्ण इस भूमंडल पर विद्यमान थे, उन्होंने अपने कार्यकलाप और ऐश्वर्य से सिद्ध कर दिया कि वे श्रीभगवान् हैं। यदि हम वास्तव में यह समझने के लिए उत्सुक हैं कि भगवान् कौन और क्या हैं, तो इस संबंध में सारी सूचना वैदिक साहित्य में दी हुई है। हमारे पास जो कुछ है, यदि उसका उपयोग हम भगवान् को समझने के लिए करें तो श्रीकृष्ण यह सिद्ध कर देंगे कि वे ही भगवान् हैं। यदि हम केवल यही तथ्य स्वीकार कर लें तो हमारी सारी शिक्षा–दीक्षा पूर्ण हो जाए। यह एक प्रथा हो गई है कि ईश्वर क्या है, इस पर शोध किया जाता है किंतु यह आवश्यक नहीं है। परम–ईश्वर विद्यमान हैं और वे स्वयं कहते हैं –

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

"हे धनंजय (अर्जुन), मुझसे श्रेष्ठ अन्य कोई सत्य नहीं है। सूत्र में

गूँथी हुई मणियों की भाँति यह सब कुछ मेरे आश्रित हैं। (गीता ७.७)

यह बात केवल श्रीमद्भगवद्गीता में, ही नहीं कही गई है अपितु दूसरे शास्त्रों में भी इसका समर्थन मिलता है। प्रारंभ से ही शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य और भगवान् श्रीचैतन्यदेव जैसे महान् आचार्यों और अन्य दिग्गज प्रामाणिक पंडितों द्वारा भी यह बात स्वीकार की गई है। वर्तमान काल में भी जो लोग श्रीकृष्ण को भगवान् नहीं मानते, वे भी उनके द्वारा अर्जुन को दिए गए ज्ञान (गीता) को स्वीकार करते हैं। इस प्रकार वे प्रकारांतर से श्रीकृष्ण को स्वीकार करते हैं। यदि कोई व्यक्ति भगवद्-गीता को ज्ञान का एक महान् ग्रंथ मानता है तो वह श्रीकृष्ण को भी मान रहा है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि श्रीकृष्ण ही सर्वोच्च, परम सत्य हैं और उनसे हमारा शाश्वत संबंध है। वह शाश्वत संबंध ही'संबंध तत्व' का ज्ञान है। भगवान् महान् हैं और हम उनके अधीन हैं। वे शासक हैं और हम शासित। एक सेवक का कर्तव्य है कि वह स्वामी को प्रसन्न रखे। इसीसे, यदि हमें सुखी रहना है, तो हमें श्रीकृष्ण को सुख पहुँचाना सीखना चाहिए। श्रीकृष्णभावनामृत की यही प्रक्रिया है।

किंतु यह कैसे समझा जाए कि श्रीभगवान् हमारी सेवा और श्रम से संतुष्ट हैं? यह संभव है कि हम अपनी सेवा और व्यावसायिक कर्तव्य को परिपूर्ण बना लें। प्रत्येक व्यक्ति को अपने स्वरूप और पद के अनुसार कुछ न कुछ कर्तव्य पालन करना पड़ता है। वह भारतीय, अमेरिकी, हिंदू, मुस्लिम या ईसाई, पुरुष, स्त्री, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र या कोई भी क्यों न हो, उससे कुछ न कुछ कर्म करने की अपेक्षा की जाती है और वह कर्म उसका कर्तव्य कर्म है। कर्तव्य कर्म की परिपूर्णता की परीक्षा यह है कि भगवान् की तुष्टि की परीक्षा, उनके प्रतिनिधि गुरु द्वारा हो सकती है। इसलिए श्रीभगवान् के सच्चे प्रतिनिधि (गुरु महाराज) की खोज और उनके मार्गदर्शन में कार्य करना महत्वपूर्ण है। यदि गुरुदेव संतुष्ट हैं, तो हमें समझ लेना चाहिए कि भगवान् भी संतुष्ट हैं। इस बात को श्रील विश्व-नाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने समझाया है —

यस्य प्रसादाद् भगवत्प्रसादो
यस्याऽप्रसादान्न गतिः कुतोऽपि ।
ध्यायंस्तुवंस्तस्य यशस्त्रिसन्ध्यम्
वन्दे गुरोः श्रीचरणारविन्दम् ।।

"गुरु महाराज की कृपामय प्रसन्नता से भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा प्राप्त होती है, जिनकी कृपा न होने पर कोई भी गति (उन्नति) नहीं होती । मैं तीनों संध्याओं (प्रातः–मध्याह्न–सायं) में श्रीगुरु के चरणकमलों के यश का ध्यान और स्तुति करता हुआ उनकी सादर वंदना करता हूँ ।" (श्रीगुर्वष्टिक, श्लोक ८)

गुरु श्रीभगवान् के प्रतिनिधि हैं । वे प्रतिनिधि कैसे बनते हैं ? यदि कोई व्यक्ति कहता है कि यह उपनेत्रों (चश्मा) की जोड़ी है और वह अपने शिष्यों को भी इस विधि से शिक्षा देता है, तो पदार्थ की पहचान में कोई भ्रम नहीं रहना । गुरु वे हैं, जिन्होंने किसी विशिष्ट गुरु–परंपरा के शब्दों को आत्मसात कर लिया है । यहाँ जो उदाहरण दिया गया है, उसमें महत्व-पूर्ण शब्द " उपनेत्र या चश्मा " है । गुरुदेव को इसके आगे और कुछ नहीं कहना है । यही उनकी योग्यता है । श्रीकृष्ण कहते हैं, " मैं सर्वोच्च हूँ ", गुरु महाराज भी कहते हैं, " श्रीकृष्ण सर्वोच्च हैं " । यह बात नहीं है कि श्रीकृष्ण के प्रतिनिधि होने या गुरु होने के लिए किसी व्यक्ति को किसी असाधारण योग्यता की आवश्यकता है । बस, उसे प्रामाणिक अधिकारी (महाजन) से केवल उसके संदेश को यथानुरूप, अपनी व्याख्या जोड़े बिना, प्रसारित करना है । ज्यों ही उस संदेश में व्यक्तिगत व्याख्या जुड़ती है, मूल संदेश लुप्त हो जाता है और उसकी शिक्षाएँ हानिकारक हो जाती हैं । जो व्यक्ति शास्त्रों की अपनी मनोन्मुखी (मनमानी) व्याख्या करता है, उसे तुरंत अस्वीकृत कर देना चाहिए ।

एक बार भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा, "तुम्हें कम से कम इतनी परीक्षा–बुद्धि तो होनी ही चाहिए कि यह पता लगा सको कि कौन

गुरु है और कौन नहीं।" उदाहरण के लिए, यदि हमें कुछ खरीदना है, तो हमें कम से कम यह ज्ञान तो होना ही चाहिए कि वह वस्तु है क्या, अन्यथा हम छले जाएँगे। यदि हमें बाजार से एक आम खरीदना है, तो हमें कम से कम यह तो ज्ञात होना चाहिए कि आम किस प्रकार का खाद्य पदार्थ है और देखने में कैसा होता है। इसी प्रकार हमें प्रामाणिक गुरु की योग्यताओं का कुछ प्रारंभिक ज्ञान होना ही चाहिए। भगवद्गीता स्वयं गुरुदेवों की परंपरा के विषय में कुछ जानकारी देती है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं —

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप॥
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥

"मैंने इस अविनाशी योग का सूर्यदेव विवस्वान् को उपदेश किया था। विवस्वान् ने इसकी शिक्षा मानव जाति के पिता मनु को दी तथा मनु ने इक्ष्वाकु के प्रति कहा। हे परंतप (अर्जुन), इस प्रकार यह परम विज्ञान गुरु-परंपरा के द्वारा प्राप्त किया गया और राजर्षियों ने इस विधि से जाना; परंतु काल-क्रम से वह परंपरा खंडित हो गई, जिससे यह विज्ञान अपने यथार्थ रूप में लुप्तप्रायः हो गया। वही प्राचीन योग आज मैंने तुमसे कहा है क्योंकि तुम मेरे भक्त और सखा हो, अतएव तुम इस विज्ञान के दिव्य रहस्य को हृदय में धारण कर सकते हो।"

वह मूल गुरु-परंपरा तो विच्छिन्न हो गई थी किंतु उसी संदेश को हम अब श्रीमद्भगवद्गीता का अध्ययन करके प्राप्त कर सकते हैं। भगवद्-गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन से वैसे ही चर्चा करते हैं जैसे उन्होंने सुदूर अतीत में सूर्यदेव से की थी। यदि हम श्रीकृष्ण और अर्जुन के शब्दों को स्वीकार करते हैं तब तो हमारे लिए भगवद्गीता को समझना संभव हो सकता है किंतु

यदि हम गीता की व्याख्या अपने ढंग से करना चाहेंगे तो अर्थ का अनर्थ हो जाएगा। भगवद्गीता को समझने का सर्वोत्तम उपाय है, किसी प्रामाणिक गुरु की शरण लेना। यह कोई बहुत कठिन बात नहीं है।

अर्जुन कहते हैं, "हे कृष्ण, मैं वह सब स्वीकार करता हूँ, जो आपने मुझसे कहा है क्योंकि आप श्रीभगवान् हैं।"

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव॥

"अर्जुन ने कहा : हे कृष्ण, हे अच्युत, आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया और स्मृति फिर प्राप्त हो गई है। अतएव अब मैं संशय से मुक्त होकर दृढ़ता से स्थित हूँ; अब आपकी आज्ञा का पालन करूँगा।" (गीता १८.७३)

अर्जुन की भाँति हमें भी श्रीकृष्ण को परम-ईश्वर भगवान् मानना चाहिए और वही करना चाहिए जो वे कहते हैं —

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

"हे कुंतीपुत्र (अर्जुन), तुम जो कुछ कर्म करते हो, जो कुछ भोजन करते हो, जो कुछ हवन करते हो, जो कुछ दान करते हो और जो तप करते हो, इन सबको मेरे अर्पण करो।" (गीता ९.२७)

श्रीकृष्ण को इस भावना से स्वीकार करके हम पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। किंतु यदि हम श्रीकृष्ण को स्वीकार नहीं करते हैं और भगवद्-गीता की व्याख्या अपने मनमाने ढंग से करते हैं, तो प्रत्येक वस्तु विनष्ट हो जाएगी।

यदि हम निष्कपट हैं, तो श्रीकृष्ण की कृपा से हमें निष्कपट गुरु मिल जाएँगे। किंतु यदि हम ठगे जाना चाहते हैं तो श्रीकृष्ण हमारे पास किसी ठग को भेज देंगे और हम जीवनभर ठगे जाते रहेंगे। वास्तव में यही तो हो रहा है। जो श्रीकृष्ण को यथार्थ रूप में तत्वतः नहीं जानना चाहते अपितु

उन्हें अपनी अपूर्ण दृष्टि से समझ लेना चाहते हैं उनके लिए भगवान् श्रीकृष्ण अज्ञात ही रहते हैं।

पूर्ण प्रक्रिया यह है कि श्रीकृष्ण और उनके उपदेशों को स्वीकार करके उनकी प्रेममयी भक्ति संपन्न की जाए। एकमात्र श्रीमती राधारानी ही हैं जो परिपूर्ण प्रेममयी भक्ति का मूर्तिमान स्वरूप हैं। ब्रह्मसंहिता में श्रीमती राधारानी को श्रीकृष्ण की आध्यात्मिक शक्ति के प्रकाश (विस्तार) के रूप में वर्णित किया गया है। इस प्रकार वे श्रीकृष्ण से अभिन्न हैं। गोपियाँ जो श्रीराधा–कृष्ण की सेवा करती हैं साधारण स्त्रियाँ या कन्याएँ नहीं हैं। वे श्रीकृष्ण की आह्लादिनी शक्ति का विस्तार हैं। श्रीमती राधा-रानी एवं गोपियों को कभी भी साधारण स्त्रियाँ नहीं समझना चाहिए। निःसंदेह वास्तव में उनकी स्थिति को समझने के लिए हमें गुरु महाराज के मार्गदर्शन की आवश्यकता है। यदि हम जीवात्माएँ वास्तव में श्रीमती राधा-रानी की सेवा करना चाहें तो यह संभव है, यद्यपि वे महाभाव स्वरूपिणी हैं। स्वयं को उच्च रागानुगा भक्ति का अधिकारी बनाकर हम श्रीमती राधारानी की किंकरी हो सकते हैं।

भक्ति में निराशा का कोई स्थान नहीं है। हम कितनी ही छोटी से छोटी भगवत्सेवा करें, वह वृद्धि को प्राप्त हो जायगी। भक्ति कभी नष्ट नहीं होती। जहाँ तक भौतिक पदार्थों का संबंध है, संसार में हम जो कुछ प्राप्त करते हैं, वह सब शरीर के नष्ट होने पर नष्ट हो जाता है। किंतु, हम सनातन चिन्मय स्फुलिंग (चिनगारी) हैं अतः हमारी आध्यात्मिक संपदा हमारे साथ जाती है और शनैः शनैः फलवती होती है। इस प्रकार जो लोग पहले इंद्रियातीत अध्यात्म चेतना का विकास कर चुके हैं, वे इस आंदोलन के माध्यम से श्रीकृष्णभावनामृत के संपर्क में आ जाते हैं। श्रीकृष्ण-भावनामृत सुलभ या सर्व सामान्य नहीं, बहुत दुर्लभ है। भगवद्गीता में कहा गया है कि लाखों, करोड़ों मनुष्यों में से कोई एक पूर्णता की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है। यदि हम यह विज्ञापन निकालें कि केवल इस पुस्तक के अध्ययन और पंद्रह मिनट ध्यान करने से कोई भी व्यक्ति शक्ति प्राप्त

कर सकता है, व्यापार में सफल हो सकता है, परीक्षा में उत्तीर्ण हो सकता है, तो अनेकानेक इस पुस्तक की ओर आकर्षित हो जाएँगे। लोग कृष्ण-भक्ति की ओर आकर्षित नहीं होते क्योंकि उन्हें माया द्वारा ठगा जाना अधिक पसंद है। वे सोचते हैं कि जीवन की परिपूर्णता बहुत भोजन करने या बीस घंटे सोने या प्रति रात्रि अथवा प्रति दिन स्त्री अथवा पुरुष संग के लिए एक नया साथी प्राप्त करने में है। लोग इन्हीं बातों में रूचि रखते हैं, जीवन की सच्ची परिपूर्णता में नहीं।

प्रत्येक बुद्धिमान् व्यक्ति को श्रीकृष्णभावनामृत के साथ कम से कम एक प्रयोग तो करना ही चाहिए। उसे कहना चाहिए, "अच्छा, मैं यह भोजन और निद्रा का सुख कई जन्मों से भोग रहा हूँ। ये वस्तुएँ तो मुझे अपने पशु और पक्षी के शरीरों में भी सुख भोगने के लिए प्राप्त थीं। इस मानव जीवन में मुझे पशु जीवन की चार आवश्यकताओं—आहार, निद्रा, भय और मैथुन पर थोड़ा नियंत्रण लगाना चाहिए और मुझे श्रीकृष्णभावनामृत के विकास में अपने समय का सदुपयोग करना चाहिए। इसी प्रकार मेरा जीवन सफल होगा।"

यह बात नहीं है कि हमने "श्रीकृष्णभावनामृत" शब्द को गढ़ लिया है। श्रीकृष्णभावनामृत शब्द विश्व के इतिहास में प्राचीनतम है —

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायण:॥

"हे अर्जुन, सदैव मेरा चिंतन करो, मेरे भक्त बनो, मेरा पूजन करो और मुझे ही नमस्कार करो। इस प्रकार तुम मेरे पास निःसंदेह आओगे। यह मैं तुमसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, क्योंकि तुम मेरे अतिशय प्रिय सखा हो। मन से नित्य निरंतर अनन्य भाव से मेरा चिंतन करो, मेरे भक्त बनो, मेरा ही पूजन करो और अतिशय प्रेम सहित मुझको प्रणाम करो। इस

प्रकार पूर्ण रूप से मुझमें तन्मय हुए तुम मुझको ही प्राप्त होगे।" (गीता १८.६५, ९.३४)

"मन्मना भव मद्भक्तो" वाक्यांश का अर्थ है, "सदा मेरे भाव से भावित रहो।" बस यही श्रीकृष्णभावनामृत है। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने अनेक बार कहा है कि हमें उनकी उपासना करनी चाहिए, उनकी वंदना करनी चाहिए और उनकी शरण में आना चाहिए। भगवद्गीता स्पष्टतया श्रीकृष्णभावनामृत की परमावश्यकता बताती है और भगवद्गीता को उपनिषदों का सार माना जाता है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से भी गीता की तुलना में कोई ग्रंथ नहीं ठहरता। पुरातत्व के प्रमाणों के आधार पर की गई काल गणना के अनुसार सिद्ध हुआ है कि श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता का उपदेश कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में पाँच हजार वर्ष पूर्व दिया था। अतएव यह श्रीकृष्णभावनामृत अभियान ऐतिहासिक दृष्टि से भी पाँच हजार वर्ष प्राचीन है। विश्व के इतिहास में इसका दर्शन प्राचीनतम है। यदि हम इसकी खोज और भी अतीत में करें तो हमें ज्ञात होता है कि श्रीकृष्ण ने इसका कथन सूर्यदेव से किया था। श्रीकृष्ण शाश्वत एवं सनातन हैं और श्रीकृष्णभावनामृत भी शाश्वत एवं सनातन है। श्रीकृष्णभावनामृत को इसी पद्धति से समझना चाहिए। इसे केवल एक कोरा सिद्धांत नहीं मानना चाहिए।

श्रीकृष्णभावना के किसी अन्य भावना से आच्छादित हो जाने पर हम अपने दूषित और परतंत्र जीवन का अनुभव करते हैं। आकाश के स्वच्छ होने पर हम सूर्य का तेजोमय मंडल देख सकते हैं किंतु जब आकाश बादलों से ढका होता है तो हम उसे नहीं देख सकते। हम सूर्य के प्रकाश का अनुभव तो कर सकते हैं किंतु स्वयं सूर्यमंडल को नहीं देख सकते। जब आकाश स्वच्छ रहता है, तो सूर्यमंडल अपने सहज स्वरूप में होता है। इसी प्रकार, हमारी चेतना या भावना शाश्वत रूप में श्रीकृष्णभावना है क्योंकि हम लोग शाश्वत रूप से श्रीकृष्ण के अंश हैं। इसका प्रतिपादन गीता में पंद्रहवें अध्याय में किया गया है:—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥

"इस बद्ध जगत् में यह [illegible] मेरा ही सनातन अंश है । बद्ध दशा में होने के कारण यह मन और पाँच इंद्रियों के साथ घोर संघर्ष कर रहा है ।" (गीता १५.७)

किसी भी कारण से हम भौतिक प्रकृति के संपर्क में आ गए हैं और मन सहित छह इंद्रियों के कारण अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष कर रहे हैं । यह डारविन का सिद्धांत है—अस्तित्व के लिए संघर्ष, सर्वाधिक समर्थ व्यक्ति का प्रभुत्व । किंतु वास्तविकता यह है कि हमारी मूलभूत, सहज स्थिति संघर्षात्मक नहीं हैं । संघर्ष, पशु जीवन की स्थिति है । मनुष्य जीवन आनंदमय होना चाहिए और उसका उद्देश्य आध्यात्मिक उन्नति होनी चाहिए । एक समय था, जब यही भारत के लोगों के जीवन का सिद्धांत था और "ब्राह्मण" नामक मनुष्यों का एक वर्ग था, जिसने स्वयं को पूर्णतया आध्यात्मिक संस्कृति के लिए ही समर्पित कर दिया था । यद्यपि ब्राह्मणोचित संस्कृति युक्त जीवन—पद्धति केवल भारतीयों के लिए ही नहीं है अपितु समस्त मानव जाति के लिए है । वेद समस्त मानव जाति के लिए लिखे गए थे किंतु हुआ यह कि जब वेद लिखे गए, तब "संस्कृति" नाम से जिसका एकमात्र अस्तित्व था, वह केवल आज की भारतीय संस्कृति ही है । उस समय पूरा भूमंडल ऋषभदेव के पुत्र सम्राट् "भरत" के नाम पर "भारत-वर्ष" कहलाता था । महाराज भरत समग्र भूमंडल का शासन करते थे किंतु शनैः शनैः यह भूमंडल विभाजित हो गया । अतः वैदिक संस्कृति के अंग "धर्म" को एक सांप्रादायिक अर्थ में केवल भारतीय या हिंदू धर्म नहीं समझ लेना चाहिए ।

प्रायः "धर्म" शब्द का अंग्रेजी अनुवाद "रिलीजन" कर दिया जाता है किंतु "धर्म" को "रिलीजन" का पर्याय समझ लेना "धर्म" शब्द को गलत समझना है । सामान्य प्रयोग में "रिलीजन" शब्द किसी

विशिष्ट प्रकार के मत का बोधक है। "धर्म" शब्द ऐसा बोध नहीं कराता। "धर्म" प्राणी के सहज स्वभाव और [illegible] का बोध क[illegible] है। उदाहरण के लिए, जहाँ भी अग्नि है. वहाँ उष्णांश (गर्मी) और प्रकाश है। अतः कहा जा सकता है कि उष्णता और प्रकाश अग्नि के "धर्म" हैं। अग्नि अपना धर्म परिवर्तन नहीं कर सकती। इसी प्रकार तरलता जल का सहज आंतरिक गुण है और उसका यह गुण बदला नहीं जा सकता। यदि इस गुण को बदल दिया जाता है तो वह जल, जल नहीं समझा जा सकता। जीवात्मा के धर्म को कभी नहीं बदला जा सकता; और उसका वह धर्म है, उसका सहज कर्तव्य अर्थात् श्रीभगवान् की सेवा। मत और "रिलीजन" बदले जा सकते हैं। आज मैं हिंदू हूँ किंतु कल एक ईसाई या मुसलमान बन सकता हूँ। इस प्रकार मत में परिवर्तन हो सकता हैं किंतु धर्म एक स्वाभाविक क्रम है, एक नैसर्गिक वृत्ति है, एक सहज संबंध है।

श्रीकृष्ण कहते हैं," ज्यों ही जीवों के धर्म के पालन में हानि होती है अथवा जब अस्वाभाविक कार्यकलाप की अभिवृद्धि होती है तब मैं अवतरित होता हूँ।" उनके अवतार का एक मुख्य हेतु धर्म के सिद्धांतों की पुनः स्थापना है। वही धर्म पद्धति सर्वश्रेष्ठ है, जो हमें भगवान् की शरण में जाने के लिए सबसे अच्छे ढंग से प्रशिक्षित करती है। भगवद्गीता का यही आधारभूत सिद्धांत है। जब तक हम धर्म का वास्तविक उद्देश्य जानते हैं हम अपनी उपासना पद्धति का चयन कर सकते हैं और हिंदू, मुस्लिम, बौद्ध, ईसाई या और कुछ भी हो सकते हैं। वस्तुतः श्रीमद्भागवत यह आग्रह नहीं करता कि हम अपना वर्तमान धर्म छोड़ दें किंतु वह धर्म के वास्तविक उद्देश्य की ओर अवश्य इंगित करता है। वह उद्देश्य है, भगवत्प्रेम और वह धर्म सर्वश्रेष्ठ है जो हमें सबसे अच्छे ढंग से भगवत्प्रेम की शिक्षा देता है।

इस युग में विशेष रूप से जनता की विवेक चेतना में सामान्य ह्रास हुआ है। कुछ ही लोगों को यह याद है कि कोई ईश्वर है किंतु अधिकांश लोग उसे भूलते जा रहे हैं। अतएव वे सुखी नहीं रह सकते। लोग सोच रहे हैं कि ईश्वर मर चुका है या कि ईश्वर के प्रति हमारा कोई कर्तव्य नहीं है या

ईश्वर है या नहीं। इस प्रकार के चिंतन कभी सुख का मार्ग प्रशस्त नहीं कर सकते। जब सभ्यता ईश्वरहीन या अनीश्वरवादी हो जाती है, जैसी कि इस समय है, तो ईश्वर या उनको प्रतिनिधि लोगों को सर्वोच्च चेतना के साथ उनके संबंधों का स्मरण करने के लिए आते हैं।

जब श्रील सनातन गोस्वामी ने भगवान् श्रीचैतन्य से पूछा, "मैं कौन हूँ?" "मैं सदैव दुःखी क्यों रहता हूँ? सब जीवों की स्थिति क्या है?" श्रीचैतन्य महाप्रभु ने तुरंत उत्तर दिया कि जीव का सच्चा स्वरूप श्रीभगवान् का दास होना है। हमें "दास" शब्द को भौतिक सेवक के अर्थ में ग्रहण नहीं करना चाहिए। भगवान् का दास बनना एक बहुत बड़ा पद है। लोग सदा किसी शासकीय पद या किसी प्रसिद्ध व्यापारिक प्रतिष्ठान में किसी स्थिति को प्राप्त करने का प्रयत्न करते रहते हैं क्योंकि इन स्थितियों में की गई सेवा द्वारा बड़े बड़े लाभ होते हैं। हम शासन की सेवाओं में तो अच्छा स्थान पाने के लिए अत्यंत उत्सुक रहते हैं किंतु भगवान् की सेवा में कोई स्थान प्राप्त करने की बात कभी सोचते भी नहीं। हमें जानना चाहिए कि भगवान् शासनों के भी शासन हैं।

श्रीभगवान् की सेवा ही "धर्म" है। इस "धर्म" की भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न सांस्कृतिक, जलवायु की परिस्थितियों या विशिष्ट स्थितियों के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार से परिभाषा दी जा सकती है किंतु प्रत्येक धार्मिक शास्त्र में ईश्वर के प्रति समर्पणभाव की शिक्षा दी गई है। कोई शास्त्र नहीं कहता कि ईश्वर नहीं है या जीव के रूप में हम स्वतंत्र हैं। न ऐसा बाइबिल कहती है, न कुरान, न वेद। यहाँ तक की बौद्ध शास्त्र भी ऐसा नहीं मानते। बौद्ध-दर्शन के अनुसार सामान्यतया न कोई जीवात्मा है, न कोई परमात्मा है। किंतु वैदिक साहित्य में श्रीबुद्ध को भगवान् का अवतार माना गया है अतः श्रीबुद्धदेव की शरण लेकर मनुष्य वास्तव में भगवान् का ही अनुसरण करता है। श्रीमद्भागवत में भगवान् के अवतारों की एक सूची दी गई है जिसमें बुद्धदेव को भी एक अवतार माना गया है। श्रीमद्भागवत की रचना व्यासदेव द्वारा पाँच हजार वर्ष पूर्व हुई थी और श्रीबुद्धदेव दो

हजार छह सौ वर्ष पूर्व अवतरित हुए थे, इस प्रकार श्रीमद्भागवत में वस्तुतः बुद्ध के अवतार की पूर्व घोषणा है। बुद्ध ने उपदेश दिया था कि न ईश्वर है, न आत्मा है, यह शरीर पदार्थों का मिश्रण है और जब यह भौतिक मिश्रण विलीन हो जाता है तब दुख और सुख की अनुभूतियाँ भी प्राप्त हो जाती है। बुद्धदेव के उपरांत शकराचार्य आए जिन्होंने उपदेश दिया कि ब्रह्म का बाह्य स्वरूप अर्थात् यह शरीर केवल एक भ्रम है। सभी धर्मों में मंदिरों के माध्यम से उपासना और प्रामाणिक आचार्यों (महाजन) की मान्यता है। हम श्रीकृष्ण, जीसस क्राइस्ट (ईसा मसीह), यहोवा, बुद्ध, शंकराचार्य या गुरु नानक किसी को मानें प्रत्येक दशा में महाजन का आश्रय आवश्यक है।

भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण को सर्वोच्च अधिकारी माना गया है। कभी वे स्वयं प्रादुर्भूत होते हैं, और कभी अपने अवतार के रूप में। कभी वे शब्द ध्वनि के रूप में और कभी एक भक्त के रूप में प्रकट होते हैं। अवतारों की कई कोटियाँ हैं। इस युग में भगवान् श्रीकृष्ण अपने नाम के रूप में अवतरित हुए हैं। वह नामावतार है—

हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे॥

भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु ने भी इस बात की संपुष्टि की है कि इस कलियुग में श्रीकृष्ण अपने नाम की शब्द–ध्वनि के रूप में अवतरित हुए हैं। नाद या ध्वनि भी एक स्वरूप है जिसे श्रीभगवान् धारण करते हैं। इसीलिए कहा जाता है कि श्रीकृष्ण और उनके नाम में कोई भेद नहीं है।

आज लोग श्रीभगवान् के साथ अपने संबंध को भूल गए हैं किंतु श्रीकृष्ण के नाम के रूप में उनका यह अवतार, यह "हरे कृष्ण" संकीर्तन समस्त संसार के लोगों को इस विस्मृति से मुक्त कर देगा। भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु की घोषणा है कि यदि हम स्वयं श्रीकृष्ण–नाम का कीर्तन करें या कीर्तन के साथ संबद्ध हो जाएँ तो हम सर्वोच्च परिपूर्ण

स्थिति तक प[illegible]च जाएँगे । श्रीमद्[illegible]ावत के अनुसार भिन्न–भिन्न युगों के लिए भि[illegible]–भि[illegible] आध्यात्मिक [illegible]ाध[illegible] हैं । किंतु प्रत्येक साधन के सिद्धांत [illegible]भी युगों में फलदायक हैं। ऐ[illegible]हीं है कि हरे कृष्ण कीर्तन इस कलि-युग में ही प्रभावशाली हो और सत्य–युग में न हो। ऐसा भी नहीं है [illegible] लोग सत्य युग में भगवान् श्रीकृष्ण के पवित्र नामों का संकीर्तन करते [illegible]। सत्य युग मे "ध्यान" ही प्रमुख साधन था, और महर्षि गण साठ हजार वर्ष की अवधि से भी अधिक ध्यान करते थे। किंतु इस युग में हमारी अल्पायु के कारण ध्यान द्वारा वह परिपूर्णता संभव नहीं है। इस कारण इस युग में विशेष रूप से वह विधान किया गया है कि हम सब एक साथ बैठकर हरे कृष्ण कीर्तन करें। यह अत्यंत सरल है और प्रत्येक व्यक्ति इसमें भाग ले सकता है। इसमें न तो किसी शिक्षा की आवश्यकता है और न पूर्व योग्यता की अपेक्षा है। इस कलियुग में लोग अत्यंत मंदबुद्धि और भाग्यहीन हैं, साथ ही दुःसंगति से दूषित भी। श्रीचैतन्य महाप्रभु ने इस महामंत्र के संकीर्तन का प्रवर्तन किया–

हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे ॥

यह मंत्र भगवत्प्रेम के प्रचार का बड़ा भारी साधन है। ऐसा नहीं है कि यह संकीर्तन साधन केवल कलियुग के लिए हो। वस्तुतः यह सभी युगों के लिए है। प्रत्येक युग में अनेक भक्त हुए हैं जो भगवन्नाम–कीर्तन द्वारा सिद्ध अवस्था को प्राप्त किए हैं। इस श्रीकृष्णभावनामृत अभियान का यही सौंदर्य है। यह केवल किसी युग, किसी एक देश या किसी एक मानव समु-दाय के लिए नहीं है। हरे कृष्ण कीर्तन किसी भी युग में, किसी भी देश में, किसी भी सामाजिक स्थिति के व्यक्ति के द्वारा किया जा सकता है क्योंकि श्रीकृष्ण सभी युगों, सभी देशों और सभी सामाजिक स्तरों के व्यक्तियों के लिए सर्वोच्च, पुरुषोत्तम भगवान् हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ (भारतीय केन्द्र...)

1. अगरतला, त्रिपुरा— हरे कृष्ण धाम, आसाम-अगरतला रोड, मारूप कार्यालय, बनमालीपुर, 799 001
2. अहमदाबाद, गुजरात— पो.आ. ओधव, जि. ओधव, वेपारी महामंडल इंडस्ट्रीयल इस्टेट के सामने, 382 410/88 6382
3. अहमदाबाद, गुजरात—7, कैलाश सोसाइटी, आश्रम रोड, 380 009/44 9935
4. इम्फाल, मणिपुर— हरे कृष्ण धाम, एयरपोर्ट रोड, 795 001
5. कलकत्ता, प. बंगाल—3, अलबर्ट रोड, 700 017/44 3757, 47 6987, 47 3283
6. कोयम्बटूर— पो.आ.बा. 1188 आर.एस. पुरम
7. गोवा— हरे कृष्ण केन्द्र, फ्लैट नं. ए/1/1, सेलबेन अपार्टमेंट, कलंगूते मार्केट, कलंगूत बार्देज, 403 516
8. गौहाटी, आसाम— श्री श्री रुक्मिणी-कृष्ण मंदिर, माउंट हरे कृष्ण, उलूबारी चराली, 781 001 (पोस्ट बैग न., 127)
9. चंडीगढ़, पंजाब— हरे कृष्ण धाम, दक्षिण मार्ग, सेक्टर 36-बी, 160 036/26674
10. छायघरिया (हरिदासपुर), प. बंगाल— ठाकुर हरिदास श्री पटवारी सेवाश्रम, पो.आ. छायघरिया, थाना: बनगाँव, जि. चौबीस परगना
11. तिरुपति, आ. प्र.— 37, बी टाइप, टी.टी.डी. क्वार्टर्स, विनायक नगर, के.टी. रोड, 517 501/2285
12. त्रिवेन्द्रम, केरल— टी.सी. 24/1485, डब्ल्यू.सी. हॉस्पिटल रोड, थाइकाउड 695 014/68197
13. दार्जिलिंग, प. बं— पो.आ. गितालपाड़ा, सिलिगुड़ी, 734 401
14. नागपुर, महाराष्ट्र—70, हिल रोड, रामनगर, 440 010/33513
15. नयी दिल्ली— एम- 19, ग्रेटर कैलाश-1, 110 048/64 12058
16. पंढरपुर, महाराष्ट्र— हरे कृष्ण आश्रम, चन्द्रभागा नदी के पार, जि. सोलापुर 413 304
17. पटना, बिहार— ... नगर, रोड न. 12, 800 016/...55
18. पुणे, महाराष्ट्र— ...4, तारापुर ...कैम्प, 411 001/60124
19. पेटा-ककानी, आ. प्र.— जि. गुंटूर
20. बंगलोर, कर्नाटक— 210, बेलरी रोड, सदाशिव नगर, 560 080/36 153...
21. बंबई, महाराष्ट्र— हरे कृष्ण ..., जुहू, 400 049/62 6860/70
22. बड़ौदा, गुजरात—18, सुजाता सोसाइटी, गोत्री रोड, 390 015/32699
23. बामनबोर, गुजरात— इस्कॉन, हरे कृष्ण आश्रम, एन. एच. 88, जि. सुरेन्द्र नगर, (फोन 97)
24. भायंदर (प.), महाराष्ट्र— लोकमान्य तिलक शॉपिंग सेन्टर, पहला माला, जि. थाणे, 401 101/69 82595
25. भुवनेश्वर, उड़ीसा— नेशनल हाइवे न. 5, नयापल्ली, 751 001/53125, 55617
26. मद्रास, तामिलनाडु—232, किल्पॅक गार्डेन रोड, 600 010/66 2286, 66 2285
27. मायापुर, पं. बंगाल— श्री मायापुर चन्द्रोदय मन्दिर, पो.आ. श्री मायापुर धाम, जि. नदिया
28. मोइरंग, मणिपुर— नौंगबन, इंगथोन, टिडिम रोड
29. वृन्दावन, उ. प्र.— कृष्ण-बलराम मन्दिर, भक्तिवेदान्त स्वामी मार्ग, रमण-रेती, जि. मथुरा /178
30. सिल्चर, आसाम— हरे कृष्ण धाम, अम्बिका पट्टी, जि. कछार, 788 004
31. सुरत, गुजरात— श्री राधा कृष्ण मंदिर, ओल्पद रोड, जहाँगीरपुरा, 395 205/84215
32. हरिद्वार, उ.प्र.— पहला माला, बुट्टानी कॉटेज, खरखरी हरद्वार, पो.बा. नं 14, 249 401
33. हैदराबाद, आ. प्र.— हरे कृष्ण धाम, नामपल्ली स्टेशन रोड, 500 001/55 1018, 55 2924

भग[illegible]र्शन प[illegible]का के सदस्य बनें



[illegible]न् श्रीकृष्ण भगवद्गीता में कहते हैं :

[illegible] परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
[illegible] मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्य संशयः।।

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रिय कृत्तमः।
भविता न च मे तस्मा दन्यः प्रियतरो भुवि।।

"जो व्यक्ति भक्तों को यह परम रहस्य बताता है उसे शुद्ध भक्ति की प्राप्ति निश्चित है और अन्त में वह मेरे पास वापस आता है।

"इस संसार में उसकी अपेक्षा कोई अन्य सेवक न तो मुझे अधिक प्रिय है और न कभी होगा।"

अतः आप सभी प्रबुद्ध पाठकों से निवेदन है कि अधिक से अधिक लोगों को *भगवद्-दर्शन* पत्रिका का सदस्य बनाकर भगवान् के प्रिय भक्त बनें। भगवान् श्रीकृष्ण की वाणी अर्थात् *सनातन-धर्म* का प्रचार करने वाली इस पत्रिका का प्रकाशन आज विश्व की २८ भाषाओं में हो रहा है। हिन्दी भाषा में पत्रिका का प्रकाशन जारी रखने के लिए आपका सहयोग अपेक्षित है। कृपया संलग्न फार्म को भर कर भेजें :

भगवद्-दर्शन (हिन्दी),
भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट,
हरे कृष्ण धाम,
जुहू, बम्बई ४०० ०४९

वार्षिक अंशदान	२६/-
द्विवार्षिक अंशदान	५१/-

मै भगवत्-दर्शन पत्रिका का वार्षिक/द्विवार्षिक सदस्य बनना चाहता हूँ, अतः मनीआर्डर*/पोस्टल आर्डर/ बैंक ड्राफ्ट द्वारा वार्षिक/द्विवार्षिक शुल्क रु........ भेज रहा हूँ।

पूरा नाम (साफ अक्षरों में) --

पता : --

व्यवसाय : --

* कृपया पत्र के साथ मनीआर्डर की रसीद संलग्न करें।
टिप्पणी : एक से अधिक सदस्य बनाने वाले पाठकों से नि[illegible]न है कि उपर्युक्त प्रारूप को सादे कागज में उतार कर भेजें।
(कम्प्यूटर की सुविधा के लिए नाम-पते अंग्रेजी के बड़े अक्षरों में लिखने की संस्तुति की जाती है)



भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट

भारतीय धार्मिक एवं सांस्कृतिक साहित्य में विश्व के सबसे महान् प्रकाशक